स्वर्गीय सुमन

[आदर्श जीवनमाला]

लेखक

पं० हरिशङ्कर शर्मा, कविरत्न

१९४६

मूल्य १।।)

प्रकाशक

गयाप्रसाद एण्ड सन्स

साधना कार्यालय, आगरा
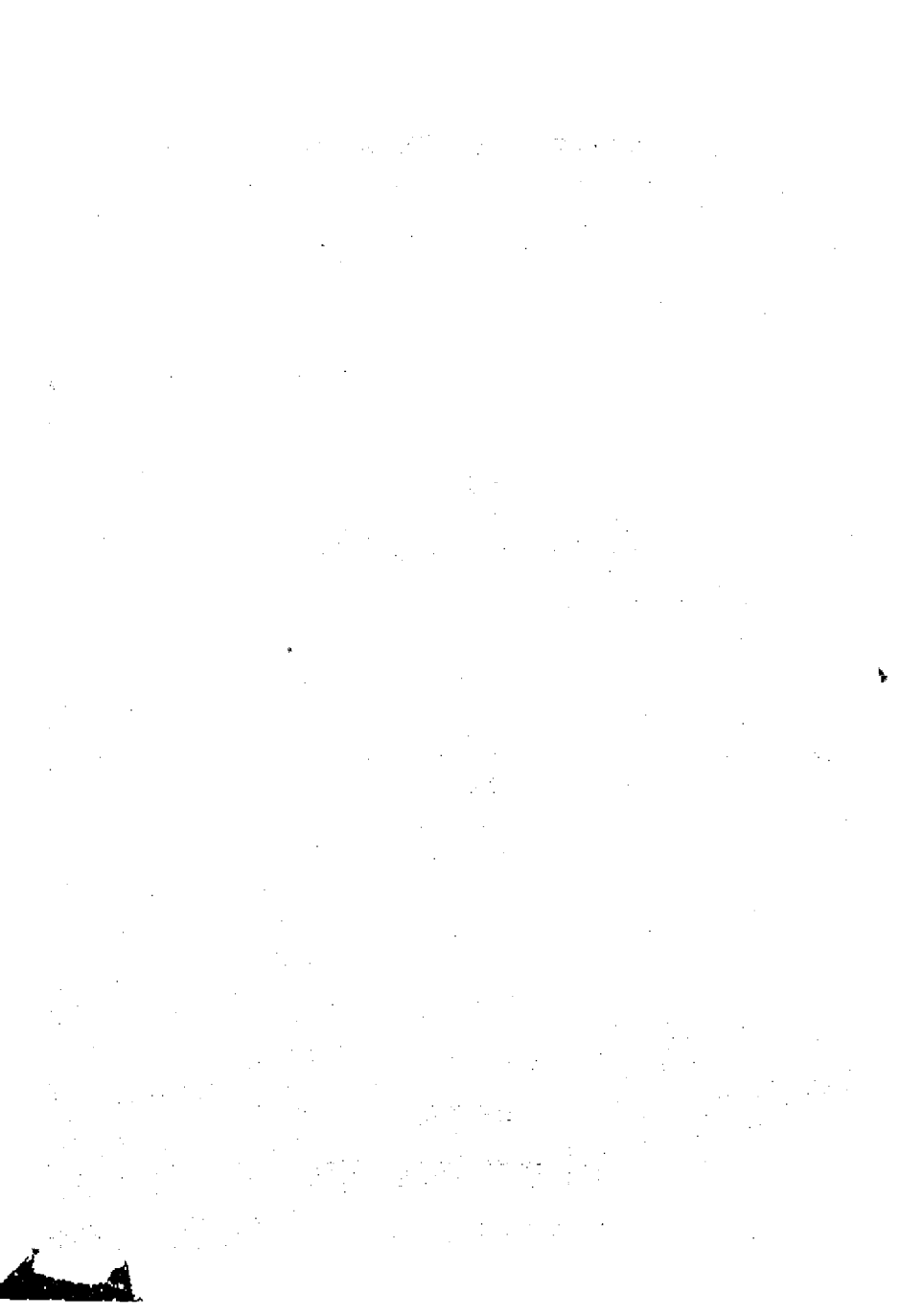
दो शब्द

हमारे पूज्य पुरुषाओं ने अपने सुकार्य-कलाप द्वारा, संसार में वह अनुपम आदर्श स्थापित कर दिया है, जिसकी प्रशंसा सब को मुक्तकंठ से करनी पड़ती है। कोई निष्पक्ष विचारशील विद्वान् जितना ही हमारे इतिहास-साहित्य की ओर प्रवृत्त होता है, उतना ही उसका हृदय भारत के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति-भाव से भर जाता है। निःसन्देह हम लोग अपने पूर्वजों की विमल विभूति के कारण अब भी अपना मस्तक संसार के सामने ऊँचा कर सकते हैं।

खेद है कि कुछ भारतीय भाइयों को अपने देश और साहित्य की कोई बात पसन्द नहीं आती, उन्हें अपने प्राचीन पुरुषाओं की गुण-गरिमा में विशेष आनन्द की उपलब्धि ही नहीं होती। इसका कारण यही हो सकता है कि वे भारतीय इतिहास का श्रद्धा पूर्वक अध्ययन या मनन न कर किसी अरुचिकर और अवांछनीय लहर में बहना विशेष श्रेयस्कर समझते हैं। परन्तु यह उनकी भूल है। अपने अतीत गौरव को ठुकरा कर उससे किसी प्रकार की शिक्षा न लेना अत्यन्त हानिकर, अनुपयुक्त और अनुचित कहा जायगा। हम चाहते हैं कि बालकों के हृदयों में, विद्यार्थि-अवस्था ही से

विषय-सूची

भारतीय इतिहास की महत्ता का बीज-वपन किया जाय जिससे वे बड़े होकर भले प्रकार समझ सकें कि उनका इतिहास कितना उज्ज्वल और भ्रान्त जनों को किस प्रकार सन्मार्ग की ओर ले जाने वाला है।

'स्वर्गीय सुमन' में हमने ऐसी ही कुछ आदर्श जीवनियों का संक्षिप्त विवरण दिया है। आशा है, विद्यार्थियों के लिए वे विशेष उपयोगी सिद्ध होंगी। यदि हमारा नवयुवक-समाज इन आदर्श घटनाओं को अपने चरित्र के साँचे में ढालने की चेष्टा कर सका तो निश्चय ही लेखक अपना श्रम सफल समझेगा।

आगरा,
विजयादशमी,
सं० १९९० — हरिशङ्कर शर्मा

विषय-सूची

भारतीय इतिहास की महत्ता का बीज-वपन किया जाय जिससे वे बड़े होकर भले प्रकार समझ सकें कि उनका इतिहास कितना उज्ज्वल और भ्रान्त जनों को किस प्रकार सन्मार्ग की ओर ले जाने वाला है।

'स्वर्गीय सुमन' में हमने ऐसी ही कुछ आदर्श जीवनियों का संक्षिप्त विवरण दिया है। आशा है, विद्यार्थियों के लिए वे विशेष उपयोगी सिद्ध होंगी। यदि हमारा नवयुवक-समाज इन आदर्श घटनाओं को अपने चरित्र के साँचे में ढालने की चेष्टा कर सका तो निश्चय ही लेखक अपना श्रम सफल समझेगा।

आगरा,
विजयादशमी,
सं० १९९०

हरिशङ्कर शर्मा

विषय-सूची

चित्र-सूची ।

चित्र-सूची ।

स्वर्गीय सुमन

सत्यव्रती हरिश्चन्द्र

चन्द्र टरै, सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ श्रीहरिचन्द को, टरै न सत्य विचार॥

—भारतेन्दु

भारत सदा से धर्म-प्रधान देश रहा है। यहाँ मानव-जीवन के लिए प्राप्तव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों में से धर्म को सदैव मुख्य माना है। धार्मिक जगत् में विचरण करने वाले धर्माचार्यों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, राजनैतिक क्षेत्र में काम करने वाले राजाओं ने भी धर्म ही को प्रधानता दी है। समय पड़ने पर उन्होंने राज्य त्याग दिया, सुख-सम्पत्ति और कुटुम्ब-परिवार से मुँह मोड़ा, स्त्री-पुत्रादि से नाता तोड़ा, यहाँ तक कि अपने शरीर को भी छोड़ दिया, परन्तु धर्म हाथ से नहीं जाने दिया। भारत के प्राचीन इतिहास-पुराणों को देखिए, ये शिवि, जीमूतवाहन, भीष्म, युधिष्ठिर आदि दस-बीस नहीं सैकड़ों दानवीर, दयावीर, सत्यवीर महापुरुषों के चारु चरित्रों से भरे पड़े हैं। हम यहाँ

जिन चक्रवर्ती भारत-सम्राट् महाराज हरिश्चन्द्र का जीवन-वृत्त लिख रहे हैं, वह भी भारत की इन्हीं धर्म-प्राण विभूतियों में से थे। ऊपर जो महाकवि भारतेन्दुजी का दोहा उद्धृत किया गया है, वह सत्यव्रती हरिश्चन्द्र के आदर्श चरित्र पर अक्षरशः चरितार्थ होता है। उन्होंने जप, तप, दया, दान आदि धर्म के अनेक अंगों में से सत्य ही को प्रधान माना था। सत्य के लिए हरिश्चन्द्र ने जो-जो संकट सहे, जिन-जिन विपत्तियों का सामना किया उनके स्मरण मात्र से हृदय काँप जाता है।

हरिश्चन्द्र इतिहास-प्रसिद्ध इक्ष्वाकु-वंशीय राजा त्रिशंकु के पुत्र थे। धर्मकार्यों में उनकी बचपन ही से विशेष रुचि रहती थी। महाराज त्रिशंकु ने वशिष्ठ सदृश महर्षियों द्वारा हरिश्चंद्र को शस्त्र और शास्त्रों की शिक्षा दिलाई थी। वयस्क हो जाने पर इनका विवाह कराया गया। संयोगवश हरिश्चन्द्र को पत्नी भी उनके समान ही धर्माचरण में अभि-रुचि रखने वाली मिली। पिता त्रिशंकु के सदेह स्वर्ग चले जाने पर हरिश्चन्द्र अयोध्या नगरी के राजसिंहासन पर बैठे। ये प्रजा को सन्तान की भाँति मानते और उसकी सुख-सुवि-धाओं का सर्वदा ध्यान रखते थे। उस समय राजा लोग अपने भोग-विलास के साधनों की पूर्ति के लिये बलपूर्वक कर वसूल न करते थे बल्कि प्रजा अपने आराम और रक्षा सम्बन्धी कार्यों के लिये स्वयम् राजकोष को भरती रहती थी। राजा का ख़ज़ाना प्रजा की सम्पत्ति हुआ करता था और उसका उपयोग प्रजाहित के कार्यों में, प्रजा की ही अनु-मति से, किया जाता था। भारत में ऐसे कई राजा हो गये हैं, जो अपने खान-पान तक के लिये, राजकोष से कुछ भी न ले मिहनत-मज़दूरी द्वारा, जीविकोपार्जन किया करते थे।

हरिश्चन्द्र के राज्य में प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न था। सब लोग धर्म-परायण और वेदों तथा शास्त्रों की आज्ञानुसार चलते थे। समय पर आवश्यकतानुसार वृष्टि होती, सब ऋतुएँ यथा नियम वर्त्तती और वनस्पतियाँ प्रचुर परिमाण में फल-फूल तथा कन्दमूल प्रदान करती थीं। शस्य-श्यामला भूमि, अनेक भाँति के अन्नों तथा खनिज पदार्थों से परिपूर्ण हो, अपने वसुन्धरा नाम को सार्थक करती थी। पुण्य-सलिला सरिताएँ अपने अखण्ड प्रवाह से बहती हुईं पार्श्ववर्त्ती प्रान्तों का सिञ्चन करती थीं। निरन्तर जप-तप, पूजा-पाठ में निरत रहने वाले ब्राह्मण लोग राजा-प्रजा की कल्याण-कामना से अनेक यज्ञ-याग किया करते थे। दूसरे वर्णों के लोग भी शास्त्र-विहित कर्त्तव्यों का पालन करने में सचेष्ट रहते थे। द्वेष, वैमनस्य, डाह, चोरी-जारी अथवा ठगी आदि का कहीं नाम भी न सुन पड़ता था। प्रजा राजा को पिता के समान ही समझती थी। राजा हिंस्र जन्तु की भाँति भयंकर या हौआ नहीं समझा जाता था। राजा-प्रजा परस्पर सद्भावपूर्वक एक-दूसरे के हितों की रक्षा करते हुए अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करते थे। देश सब भाँति समृद्धिशाली तथा सुख-सम्पन्न था। भूखे-नङ्गों या भिखमंगों की भरमार न थी। आतुरों का आर्त्तनाद या दुखियों का करुण-क्रन्दन कहीं सुनाई न पड़ता था। सब आपस में भाई-भाई के समान बर्त्ताव करते थे। सचमुच वह सतयुग का समय था।

विधि का विधान भी बड़ा विचित्र है। सृष्टि के आरम्भ से ही उसने प्रत्येक वस्तु का प्रतिद्वन्द्वी उत्पन्न कर दिया है। सुख-दुःख, लाभ-हानि, रात-दिन, उन्नति-अवनति आदि ऐसे ही जोड़े हैं जो एक दूसरे के साथ सदा सम्बद्ध रहते हैं।

जहाँ फूल है, वहाँ काँटा है, और जहाँ कमल है वहाँ कीचड़ भी मौजूद है। होना भी चाहिए, क्योंकि सद्‌गुणों का महत्त्व दुर्गुणों से तुलना करने पर ही जाना जाता है। कडुआ खाने पर ही मीठे की महिमा ज्ञात होती है। अन्धकार जनित अड़चनों को देखकर ही प्रकाश-प्रभव सुविधाओं के महत्त्व का बोध होता है। इसी भाँति दुःख भोगकर ही मनुष्य सुखों का आदर करता है। हरिश्चन्द्र को जहाँ अन्यान्य सांसारिक सुख उपलब्ध थे, वहाँ एक वस्तु का अभाव सदैव खटकता रहता था। उनको रात-दिन इसी बात का सोच रहता कि मेरे पीछे इस सुविशाल राज्य का प्रबन्ध-भार कौन सँभालेगा? और पुरुषाओं के लिए पिण्ड-दान की विधि किसके द्वारा सम्पन्न होगी ? क्या महाराज इक्ष्वाकु का पवित्र वंश मेरे पश्चात् नष्ट ही हो जायगा!

हरिश्चन्द्र को सन्तान के लिए अति चिन्तित देख महर्षि वशिष्ठ ने उन्हें पुत्रेष्टि यज्ञ करने की सम्मति दी। यज्ञ करने पर राजा का मनोरथ पूर्ण हुआ। उसे एक अति तेजस्वी स्वरूपवान् पुत्र की प्राप्ति हुई। यथासमय बालक के जाति-कर्मादि संस्कार कराये गये और अनेक प्रकार से उत्सव मनाया गया। राजकुमार का नाम रोहित (रोहिताश्व) रक्खा गया और बड़े लाड़-चाव से उसका लालन-पालन किया जाने लगा। कुछ ही दिनों बाद, महाराज हरिश्चन्द्र ने एक बड़ा भारी यज्ञ किया। इस यज्ञ के आचार्य वशिष्ठ ऋषि बनाये गये। यज्ञ समाप्त होने पर वशिष्ठजी तथा अन्य विद्वान् ब्राह्मणों को प्रचुर धन-धान्यादि देकर बिदा किया गया। हरिश्चन्द्र के कुल-पुरोहित ऋषि विश्वामित्र थे। पुराणों में लिखा है कि, विश्वामित्र ने ही उनके पिता त्रिशंकु को अपने

तपोबल से सदेह स्वर्ग भेजा था। पीछे देवराज इन्द्र द्वारा त्रिशंकु के देवलोक से लौटाए जाने पर, उनके लिए विश्वामित्र ने दूसरे ही स्वर्ग की रचना कर डाली। जो हो, इस कथा से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है, कि हरिश्चन्द्र के कुल-पुरोहित विश्वामित्र ही थे।

विश्वामित्र यह सुनकर बड़े अप्रसन्न हुए कि हरिश्चन्द्र ने एक बड़ा यज्ञ किया, परन्तु उसमें बुलाना तो दूर रहा हमें उसकी सूचना भी नहीं दी। विश्वामित्र का क्रोध तो प्रसिद्ध ही था। यहाँ तक कि क्रोध के आवेश में वे कई बार अपने चिर-सञ्चित तपोबल का अपव्यय भी कर चुके थे। वशिष्ठ के मुँह से जब उन्होंने हरिश्चन्द्र के यज्ञ की चर्चा और उसके सत्यव्रत की प्रशंसा सुनी तो वह क्रुद्ध हो वशिष्ठजी से कहने लगे—"महाराज! हरिश्चन्द्र नाम मात्र का सत्यवादी है। उसने सैकड़ों बार झूठ बोला है। आप कहें तो मैं अब उसे झूठ बोलते दिखा दूँ।" यह सुन वशिष्ठजी बोले—"नहीं भगवन्! उस पर आप यह मिथ्या लाञ्छन लगाते हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हरिश्चन्द्र प्राण-संकट उपस्थित होने पर भी झूठ नहीं बोल सकता।" बातों ही बातों में विश्वामित्र के क्रोध का पारा और भी चढ़ गया और उन्होंने उसी समय प्रण किया—"अच्छी बात है, मैंने भी हरिश्चन्द्र को सत्य से न डिगाया, तो मेरा नाम विश्वामित्र नहीं।" बस, हरिश्चन्द्र के जीवन का सुखमय अध्याय यहीं समाप्त होता है। विश्वामित्र के कोप-कोदण्ड का दुर्लक्ष्य बन कर, भाँति-भाँति की भयंकर यन्त्रणाएँ सहते हुए भी, सत्य को हाथ से न जाने देना हरिश्चन्द्र का ही काम था।

यज्ञ समाप्त होने पर राजा हरिश्चन्द्र ने स्वप्न देखा कि, उसने सम्पूर्ण पृथ्वी एक ब्राह्मण को दान कर दी है। भला, स्वप्न की बातें भी कहीं सच्ची हुआ करती हैं। स्वप्न-जगत् में विचरता हुआ व्यक्ति ऐसे अनेक असम्भव काम कर डालता है जिनका जागने पर कुछ भी प्रभाव नहीं रहता। परन्तु हरिश्चन्द्र विलक्षण सत्यवादी थे। उन्होंने स्वप्न में की हुई प्रतिज्ञा भी उसी भाँति पूरी की, जिस प्रकार जाग्रत् में, जान-बूझ और सोच-विचार कर किये प्रण को निभाते थे। प्रातः आँख खुलते ही राजा ने अपना स्वप्न रानी शैव्या तथा मन्त्रियों को सुनाया और उस ब्राह्मण की खोज प्रारम्भ कर दी, जिसे वह स्वप्न में भूमि दान दे चुके थे। रानी तथा मन्त्रियों ने बहुत समझाया पर राजा ने अपने सत्यव्रत-पालन के आगे किसी की कुछ न सुनी। वह बार-बार यही कहते रहे कि भाई, प्रतिज्ञा जानकर की या अनजाने, स्वप्न में की चाहे जाग्रत् में, पर उसका करने वाला तो मैं ही हूँ। मैं ब्राह्मण को स्वप्न में पृथ्वी दे चुका, अब मेरा इस पर कुछ भी अधिकार नहीं है। अब तो जैसे भी बने शीघ्रातिशीघ्र उन विप्रदेव को लाओ, जिससे उनकी धरोहर उन्हें सौंप कर मैं ऋण-भार से मुक्त हो जाऊँ।

इधर राजा तथा मन्त्रियों में ये बातें हो ही रही थीं कि द्वारपाल ने महर्षि विश्वामित्र के आगमन की सूचना दी। राजा सुनते ही सिंहासन से उठे और महर्षि का स्वागत करने के लिए द्वार पर पहुँचे। हरिश्चन्द्र ने विश्वामित्र का अर्घ-पाद्यादि द्वारा विधिवत् स्वागत-सत्कार कर उन्हें दिव्य सिंहासन पर बिठाया। इस विधि से निवृत्त होने पर राजा ने बड़े विनम्र भाव से विश्वामित्र के पधारने का कारण पूछा

इस पर त्रिकालज्ञ ऋषि रोष-पूर्ण स्वर में कहने लगे—"अरे हरिश्चन्द्र, ऐसा धोखा ! यह विडम्बना ! रात्रि को तू सम्पूर्ण पृथ्वी का संकल्प कर चुका है, और अब पूछता है, कैसे आये ! क्या दान की हुई वस्तु देने का अब तेरा विचार नहीं है ? यदि ऐसी ही इच्छा है, तो कह दे, मैंने दान नहीं किया ! फिर क्यों सत्यवादीपन का ढोंग बनाये बैठा है।

विश्वामित्र का क्रोध-पूर्ण मुख-मण्डल देख हरिश्चन्द्र काँप उठे। वह हाथ बाँध कर ऋषि के आगे खड़े होगये और अनेक अनुनय-विनय कर कहने लगे–"महाराज ! मैं तो प्रातःकाल ही से इसी चिन्ता में था कि रात वाले दान-गृहीता का पता कैसे लगे। भगवन् ! स्वप्न की ही तो बात थी। इतना स्मरण न रहा कि स्वप्न में भूमि-दान किन महानु-भाव को किया गया है। अब आपने स्वयं पधार कर मेरा भ्रम दूर कर दिया। श्रीमान् की इस अपार अनुकम्पा के लिए यह दास अत्यन्त कृतज्ञ है। ऋषिराज ! अब अपनी धरोहर सँभालिए और मुझे ऋण-भार से मुक्त कीजिए। वह आपका छत्र-चामरादि संयुक्त राजसिंहासन है और यह मुकुट।" इतना कहते-कहते हरिश्चन्द्र ने अपने शिर से मुकुट उतार कर विश्वामित्रजी के जटाजूट-मण्डित मस्तक पर रख दिया।

विश्वामित्रजी यह सोच कर आए थे, कि स्वप्न की बात को मिथ्या मान कर राजा भूमिदान देने से इन्कार कर देगा। बस फिर क्या है; मैं उसे तुरन्त मिथ्यावादी घोषित कर दूंगा। पर यहाँ आकर जो दृश्य देखा, उससे उन्हें लज्जित होना पड़ा। ऋषि आये थे राजा को हराने पर उन्हें स्वयं हार खानी पड़ी। इतने पर भी विश्वामित्र निराश नहीं हुए। उन्होंने

सोचा, सम्पूर्ण राज-पाट तो हरिश्चन्द्र मुझे दे ही चुका। अब इस महादान की प्रतिष्ठार्थ कुछ दक्षिणा इससे और माँगनी चाहिए। देखें उसे कहाँ से देगा। निश्चय ही इस बार यह दक्षिणा देने में असफल रहेगा और मेरा मनोरथ सिद्ध हो जायगा। अपने उक्त विचार के अनुसार विश्वामित्र बोले-"राजन्! तुमने भूमिदान देकर मेरी कामना पूरी की, ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे। परन्तु अब इस महादान की प्रतिष्ठा के लिए स्वर्णमयी दक्षिणा तो और मिलनी चाहिए।"

विश्वामित्र की आज्ञा होते ही, राजा ने बिना कुछ सोचे-विचारे, राजकोष में से महर्षि के इच्छानुसार सोना ला देने की मन्त्रियों को आज्ञा दी। इस पर विश्वामित्र व्यंग्य-पूर्ण हँसी हँसते हुए बोले-"बस, हरिश्चन्द्र! तुम्हारी सत्यवादिता का प्रमाण मिल गया। क्या इसी व्यवहार के बल-बूते पर अपने को वदान्य और सत्यवादी कहाने का दम्भ रखते हो। अरे जब भूमिदान कर चुके, तो भूमि पर जितनी भी वस्तुएँ हैं सब उसके साथ आगईं। राजकोष क्या भूमि से अलग है, जिसे अब भी अपना समझते हो। यदि दक्षिणा नहीं देना चाहते तो स्पष्ट इन्कार करदो! इस प्रकार आत्मा और लोक दोनों की प्रवञ्चना करके सत्यवादी कहलाए बिना क्या कुछ मारा जाता है! यदि सच्चे प्रतिज्ञा-पालक हो तो मेरी दक्षिणा दो, नहीं तो आज से तुम्हें झूठा और ढोंगी घोषित कर दूँगा। अब जगत् में स्त्री, पुत्र और अपने शरीर के सिवा चौथी वस्तु पर तुम्हारा कुछ भी अधिकार नहीं रहा। इन्हीं के द्वारा मेरा ऋण चुकाने का शीघ्र प्रबन्ध करो।

विश्वामित्र की बातें सुन हरिश्चन्द्र की आँखें खुलीं। अब उनकी समझ में आया कि सचमुच भूमिदान के साथ

वह सर्वस्व दे चुके। राजा बड़े असमञ्जस में पड़ा। ब्राह्मण का ऋण कैसे चुकाया जाय! कुछ सोच-विचार कर हरिश्चन्द्र ने कहा—"भूदेव, निःसन्देह मैं आपका ऋणी हूँ। मुझे आप कृपा कर कुछ दिनों का अवकाश दीजिए, जिससे किसी की नौकरी द्वारा धनोपार्जन कर आपकी दक्षिणा चुका सकूँ।"

इस पर विश्वामित्र बोले—"राजन्! थोड़ी-सी बात के लिए इतना कष्ट क्यों करते हो। नहीं दे सकते तो, कह दो नहीं देता, झगड़ा मिट जायगा। कहाँ किसकी नौकरी करोगे। दान की हुई पृथ्वी पर से जो कुछ किसी प्रकार भी उपार्जन करोगे, वह आकाश से तो आवेगा नहीं। होगा तो इसी भूमि का। फिर उसमें तुम्हारा क्या! यों व्यर्थ झमेले में क्यों डालते हो! जब ऋण चुकाने का कोई उपाय और साधन नहीं है, तो स्पष्ट इन्कार करने में तुम्हें क्यों संकोच है।

विश्वामित्र की बात सुन कर हरिश्चन्द्र किंकर्तव्य-विमूढ़ होगए। सचमुच बड़ी विकट समस्या सामने थी। उन्होंने सोचा कि दान की हुई पृथ्वी पर तो मुझे रहना और अन्न-जल भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। फिर ब्राह्मण का ऋण कैसे चुकाया जाय। मन में यह विचार आते ही राजा अधीर हो गए! "हे भगवान्! तुम्हारी कैसी विचित्र लीला है! क्या तुम्हारी आज्ञानुसार चलने का यही फल है! क्या तुम्हारे न्यायालय का यही न्याय है! क्या आप अपने सेवकों को यही उपहार दिया करते हैं! दीनबन्धु! अब आपही इस धर्म-संकट से मेरा उद्धार करिये। आपको यदि अपने भक्त की लाज रखनी है तो कोई युक्ति सुझाइये।" इस प्रकार हरि-श्चन्द्र कुछ काल के लिए ध्यानावस्थित होगए। फिर थोड़ी

देर में सचेत हो कहने लगे—"ऋषिवर, आप बार-बार 'ना' कर देने की बात न कहें। इससे मुझे मर्मान्तिक वेदना पहुँचती है। भगवन्! चाहे सूर्य अपना तेज छोड़ दे, चन्द्रमा शीतलता त्याग दे, मेघ जल के स्थान में पत्थर बरसाने लगें, पहाड़ आकाश में उड़ने लगें और भानु भगवान उदयाचल के बदले अस्ताचल से उदय हों, परन्तु हरिश्चन्द्र जो कह चुका है उसे अवश्य पूरा करेगा। कृपासिन्धो, चाहे मुझे प्राण तक विसर्जन करने पड़ें पर आपकी दक्षिणा अवश्य चुकाऊँगा। मुझे आप केवल एक मास का अवकाश दीजिए। शास्त्रों में लिखा है कि काशीपुरी भूमण्डल से अलग भगवान् शंकर के त्रिशूल पर बसी है। अतः उस पर न मेरा आधिपत्य था न आपका अधिकार है। मैं उसी नगरी में जा, जैसे भी बनेगा, धनोपार्जन कर आपका ऋण चुकाऊँगा। विश्वामित्र राजा के इस कथन का बिलकुल विरोध न कर सके और उसे एक मास का अवकाश दे दिया।

इस प्रकार चक्रवर्ती सम्राट् दीन-हीन, असहाय और भिखारी बन, स्त्री-पुत्र सहित नगर से बिदा हुआ। उस समय राजा की दशा बड़ी दयनीय थी। जिस रानी शैव्या ने कभी पलँग से नीचे पैर नहीं दिया था, उसे अब नंगे पैरों कुश-कंटकाकीर्ण मार्ग में होकर, अयोध्या से काशी तक जाना पड़ा, सो भी बिना कुछ खाए पिए! छः-सात साल का सुकुमार राजकुमार रोहिताश्व, जिसे राजा ने अनेक जप-तप और यज्ञानुष्ठान द्वारा, बड़ी कठिनाइयों से प्राप्त किया था, वल्कलवसन पहने भूख-प्यास और आतप-वात सहता हुआ, अपने माता-पिता के साथ वन-वन भटकने लगा। राजा के बिदा होते समय पुरवासियों की विचित्र अवस्था थी। वे

हिलकी भर कर रो रहे और दुर्दैव को बिगो रहे थे । हरिश्चन्द्र ने बड़े धैर्यपूर्वक सब को सान्त्वना देते हुए कहा—"भाइयो, आज तक हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध था, अब उसका विच्छेद होता है । इसके लिए शोक मत करो । भगवान् की ऐसी ही इच्छा थी । आज से आप सब लोग महर्षि विश्वामित्र की प्रजा हैं । जिस भाँति अब तक मेरे साथ प्रेमपूर्वक रहे, उसी तरह अब महात्मा कौशिक के साथ रहना । हमारा-तुम्हारा इतने ही दिनों का संयोग था ।" इसके अनन्तर राजा-रानी ने उपस्थित जनता तथा राजधानी को प्रणाम कर काशी के लिए प्रस्थान किया ।

कई दिन मार्ग के दुःसह दुःखों को झेलते हुए स्त्री-पुत्र समेत हरिश्चन्द्र काशी पहुँचे । मार्ग में राजा तो राजा, रानी शैव्या और सुकुमार रोहित तक ने भूख-प्यास से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी, अन्न-कण या जल-बिन्दु मुँह तक नहीं जाने दिये । काँटों और कंकड़ों में नंगे पाँव चलने से तीनों के पैर लोहू-लुहान होगए थे । परन्तु प्रण-पालन की धुन में इन संकटों की परवा न कर वे चलते ही गए । कहीं विश्राम करते भी कैसे, उन पर तो एक मास की अवधि बीत जाने का भय सवार था ।

कहते हैं, काशी विश्वनाथ की पुरी है । वहाँ पहुँचने पर मनुष्य की सब आधि-व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं । पर राजा हरिश्चन्द्र को वहाँ भी शान्ति प्राप्त न हुई । उन्हें अब भी ब्राह्मण के ऋण से मुक्त होने की चिन्ता सता रही थी । तीनों प्राणी इधर-उधर घूम-फिर कर नौकरी की खोज करते रहे, परन्तु ऐसा कोई व्यक्ति न मिला, जो अभीष्ट धन अगाऊ देकर उन्हें नौकर रखता । इस उद्योग में असफल हो राजा

एक स्थान पर बैठ कर चिन्ता करने लगे। वह बोले-"हे भगवान्! एक मास की अवधि पूरी होने को है। यदि अब भी ब्राह्मण की दक्षिणा न दे सका, तो संसार के आगे क्या मुँह दिखाऊँगा। भगवान् विश्वनाथ! क्या आपने मुझे विश्व से बाहर समझ रक्खा है! आपकी पुरी में आकर प्राणी भव-बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं, पर मैं महर्षि के थोड़े से ऋण से भी मुक्त न हो सका! दीनबन्धु! अब मेरी लाज आप ही के हाथ है, आप सत्यस्वरूप कहाते हैं। सत्य-पालन के पीछे ही मैं इस दशा को पहुँचा हूँ। आप कैसे सत्य-नारायण हैं, जो सत्य की रक्षा नहीं कर सकते!" इतना कहते-कहते राजा व्याकुल हो रोने लगे।

उस समय रानी शैव्या ने उन्हें धैर्य बँधा कर सावधान किया। वह बोली-"प्राणनाथ! जब तक आपकी यह दासी मौजूद है, तब तक इस भाँति चिन्तातुर और शोकाकुल होने की आवश्यकता नहीं। आप मुझे किसी श्रीसम्पन्न व्यक्ति के हाथों बेच कर ब्राह्मण के ऋण से मुक्त हूजिए।" इस पर हरिश्चन्द्र कहने लगे-"प्रिये, तुम्हारा पाणिग्रहण करते समय अग्निदेव को साक्षी देकर मैंने आजन्म तुम्हारा भरण-पोषण करने की प्रतिज्ञा की थी। अब तुम्हें बेच कर अपना स्वार्थ साधन करूँ! देवि, मुझसे यह क्रूर कर्म न होगा।" इसके उत्तर में रानी ने कहा-"महात्मन्, मैं और आप दो नहीं हैं। हमारा दुःख-सुख और पाप-पुण्य, सब में समान भाग है। दोनों का एक ही स्वार्थ है। आप मुझे न बेचेंगे तो मैं स्वयं बिककर अपना ऋण चुकाऊँगी। पर आपके, नहीं-नहीं, अपने वचनों को असत्य प्रमाणित न होने दूंगी।"

शैव्या के कथन से हरिश्चन्द्र को बहुत आश्वासन मिला। अब वह बिकने का निश्चय कर काशी के प्रधान बाज़ार में पहुँचे और इधर-उधर घूम कर ग्राहक खोजने लगे। "अरे किसी को दास-दासी चाहिए तो हमें मोल ले लो" कहते हुए राजा ने बाज़ार में फेरी लगानी शुरू की। राजा-रानी की देखादेखी बालक रोहित भी कभी-कभी अपनी तोतली बोली में कहता—"अले किछी को दाछ-दाछी चाहिए तो अम को मोल ले लो।" हा! जो बालक इतने बड़े राज-परिवार में उत्पन्न हुआ, जिसके सम्बन्ध में दैवज्ञों ने चक्रवर्ती सम्राट् होने की भविष्य वाणी की, वही रोहित आज दास बनने के लिए दीनता पूर्वक प्रार्थना कर रहा है! कितना हृदय-विदारक दृश्य और कैसा विपरीत विधान है!!

हरिश्चन्द्र को घूमते-घूमते संध्या होने आई पर अभी तक उसे मोल लेने वाला कोई न मिला। वह सोचने लगा कि एक मास की अवधि में केवल सन्ध्या तक का समय और शेष है, कुछ ही समय पश्चात् विश्वामित्र सिर पर आ धमकेंगे, उस समय उनकी रोष-पूर्ण आरक्त आँखें कैसे देखी जा सकेंगी। हा दैव! क्या अब इस से भी अधिक संकट दिखाना शेष है! क्या तेरी यही इच्छा है कि हरिश्चन्द्र झूठा सिद्ध हो! यदि तुझे यही इष्ट है, तो इस में किसी का क्या वश। परन्तु इतना अवश्य है कि आज से लोगों की धर्म-कार्यों से आस्था जाती रहेगी और उनका ईश्वर पर से विश्वास उठ जायगा।

राजा हरिश्चन्द्र इसी विचार-प्रवाह में बहे जा रहे थे, कि अचानक एक धनी ब्राह्मण ने उनका ध्यान भंग कर पूछा—"अरे परदेशी सुन, मुझे घर के काम-काज के लिए

दासी की आवश्यकता है। बोल, इस स्त्री को किन नियमों पर और कितने मूल्य में बेचता है। इस पर रानी बोल उठी-"महाराज! मुझे उच्छिष्ट उठाने और पर-पुरुष से बात करने के सिवा, घर-गृहस्थ के किसी काम के करने में आनाकानी न होगी। रही मूल्य की बात, सो हमें आवश्यकता तो साठ भार सोने की है, पर आप जो उचित समझ कर देंगे वही ले लिया जायगा।" इस पर ब्राह्मण ने तीस भार सोना देकर रानी को मोल ले लिया। विश्वामित्र की आधी दक्षिणा का प्रबन्ध हो जाने पर राजा को कुछ सन्तोष हुआ।

ब्राह्मण शैव्या को साथ लेकर जाने लगा। रानी ने रोते-रोते हरिश्चन्द्र से विदा माँगी। अपने प्राणप्यारे पुत्र का मुँह चूमा और आँसू बहाती हुई चलने लगी। छः-सात साल का अबोध बालक अपनी माँ को जाते देख उससे लिपट गया और तोतली बोली में कहने लगा—"म्हालाज, मेली माँ को कहाँ लिए जाते हो! मुझे भी छाथ ले चलो।" सरल स्वभाव शिशु के भोलेपन और दयनीय दशा को देख जहाँ ब्राह्मण के हृदय में दया का स्रोत उमड़ पड़ना चाहिए था, वहाँ उसने क्रूरतापूर्वक उसे धक्का देते हुए कहा-"चल-चल, मुझे देर होती है।" ब्राह्मण के धक्के से बालक गिर गया और रोने लगा। हरिश्चन्द्र ने अपने हृदय के टुकड़े को धरती पर से उठाया और वह उसका मुँह पोंछ कर पुचकारने लगे। शैव्या बोली-"महाराज! अज्ञान बालक पर इतना क्रोध नहीं करना चाहिए। उसने आपका कुछ अपराध भी तो नहीं किया था।" यह सुन हृदय-हीन ब्राह्मण रानी को झिड़कते हुए कहने लगा—"चुप रह, मैंने तुझे उपदेश देने के लिए नहीं ख़रीदा है।" शैव्या चुप हो गई, क्या करती, आख़िर तो क्रीतदासी थी। हाँ, इतना

दासी की आवश्यकता है। बोल, इस स्त्री को किन नियमों पर और कितने मूल्य में बेचता है। इस पर रानी बोल उठी- "महाराज ! मुझे उच्छिष्ट उठाने और पर-पुरुष से बात करने के सिवा, घर-गृहस्थ के किसी काम के करने में आनाकानी न होगी। रही मूल्य की बात, सो हमें आवश्यकता तो साठ भार सोने की है, पर आप जो उचित समझ कर देंगे वही ले लिया जायगा।" इस पर ब्राह्मण ने तीस भार सोना देकर रानी को मोल ले लिया। विश्वामित्र की आधी दक्षिणा का प्रबन्ध हो जाने पर राजा को कुछ सन्तोष हुआ।

ब्राह्मण शैव्या को साथ लेकर जाने लगा। रानी ने रोते-रोते हरिश्चन्द्र से विदा माँगी। अपने प्राणप्यारे पुत्र का मुँह चूमा और आँसू बहाती हुई चलने लगी। छः-सात साल का अबोध बालक अपनी माँ को जाते देख उससे लिपट गया और तोतली बोली में कहने लगा—"म्हालाज, मेली माँ को कहाँ लिए जाते हो ! मुझे भी छाथ ले चलो।" सरल सभाव शिशु के भोलेपन और दयनीय दशा को देख जहाँ ब्राह्मण के हृदय में दया का स्रोत उमड़ पड़ना चाहिए था, वहाँ उसने क्रूरतापूर्वक उसे धक्का देते हुए कहा-"चल-चल, मुझे देर होती है।" ब्राह्मण के धक्के से बालक गिर गया और रोने लगा। हरिश्चन्द्र ने अपने हृदय के टुकड़े को धरती पर से उठाया और वह उसका मुँह पोंछ कर पुचकारने लगे। शैव्या बोली- "महाराज ! अज्ञान बालक पर इतना क्रोध नहीं करना चाहिए। उसने आपका कुछ अपराध भी तो नहीं किया था।" यह सुन हृदय-हीन ब्राह्मण रानी को झिड़कते हुए कहने लगा—"चुप रह, मैंने तुझे उपदेश देने के लिए नहीं ख़रीदा है।" शैव्या चुप हो गई, क्या करती, आख़िर तो क्रीतदासी थी। हाँ, इतना

विनय उसने अवश्य किया कि "देवता, यदि आप इस बालक को भी ले चलें तो बड़ी कृपा हो। कुछ न कुछ यह भी आपकी सेवा कर ही दिया करेगा। इसका कुछ मूल्य भी हमें नहीं चाहिए।" रानी के कहने पर ब्राह्मण ने रोहित को भी साथ ले लिया।

रोते-झींकते शैव्या और रोहित हरिश्चन्द्र से विदा हुए। चलते समय रानी ने प्रणाम किया और कहा-"नाथ! भूल न जाना।" रोहित ने भी अपनी माँ के वाक्य को दुहराया-"पिताजी, भूल न जाना।" पुत्र की बात सुन हरिश्चन्द्र की हिलकियाँ बँध गईं। वह कहने लगे—"वत्स! मैं तेरा पिता नहीं, क्रूर हृदय राक्षस हूँ। पिता पालन करने वाले को कहते हैं, अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए सन्तान बेचने वाला पिता नहीं पिशाच कहा जाना चाहिए। मेरी आँखों के तारे, जाओ; तन, मन से स्वामी की सेवा करना, अब तुम्हारे पिता ये ही हैं। भगवान् तुम्हारा भला करे।" इस प्रकार ये लोग रोते-बिलखते एक दूसरे से वियुक्त हुए।

रानी को गए अभी देर न हुई थी और वियोग-जन्य वेदना के कारण हरिश्चन्द्र के आँसू भी न रुके थे कि इतने ही में विश्वामित्रजी आ धमके। वह आते ही रोष-पूर्ण स्वर में कहने लगे-"कहिए सत्यव्रतजी, अब क्या देर है। एक मास की अवधि भी समाप्त हो चुकी। लाइए दक्षिणा या मना कीजिए।" हरिश्चन्द्र बोले—"भगवन्, आपकी आधी दक्षिणा तो स्त्री-पुत्रों को बेचकर प्राप्त करली है, इसे सँभालिए। शेष भी सन्ध्या तक स्वयं बिक कर दिए देता हूँ।" इस पर विश्वामित्र ने आतङ्क-पूर्ण स्वर में कहा—"हरिश्चन्द्र, हम तुम्हारे नौकर नहीं हैं, जो बार-बार मांगे आवें। हमारी दक्षिणा अभी दो

नही तो तुम्हे शाप देते है   इस पर राजा ऋषि के चरण पकड़ कर गिड़गिड़ाने लगा।

इसी समय काशी का प्रसिद्ध डोम वहाँ आ निकला और हरिश्चन्द्र से बोला—"क्यों भाई, क्या तू ही बाज़ार में बिकने आया है?" हरिश्चन्द्र ने कहा—"हाँ, दुर्दैव का सताया मैं ही हूँ, क्या आपको आवश्यकता है।" डोम बोला—"मरघट की रखवाली करने के लिए मुझे एक नौकर चाहिए, तो क्या यह काम तुम करोगे?" हरिश्चन्द्र कुछ कहना ही चाहते थे कि इतने ही में विश्वामित्र बोल उठे-"हाँ-हाँ, करेगा क्यों नहीं! ले जाओ। मेरी दक्षिणा भी जल्दी मिल जाय।" इस पर हरिश्चन्द्र ने विश्वामित्र से कहा-"महाराज, डोम के हाथों तो मुझे मत बेचिए। सन्ध्या तक कोई न कोई अच्छा ग्राहक आ ही जायगा।" यह सुनते ही विश्वामित्र रक्त वर्ण नेत्रों से हरिश्चन्द्र की ओर देखते हुए बोले-"नहीं-नहीं, हम सन्ध्या-वन्ध्या नहीं जानते। ग्राहक मौजूद है, बिकना है तो इसके हाथ बिको, नहीं तो साफ़ इन्कार करो।" विश्वामित्र का यह ढंग देख हरिश्चन्द्र ने डोम का दासत्व स्वीकार कर लिया और विश्वामित्र अपनी दक्षिणा ले चम्पत हुए!

हरिश्चन्द्र को मरघट की रखवाली और मृतक-दाह करने वालों से कर वसूल करने का काम सौंपा गया। इस प्रकार राजा-रानी दोनों को अपने-अपने स्वामियों की सेवा करते बहुत दिन बीत गये। विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र की पूरी परीक्षा ले ली, फिर भी उन्हें सन्तोष न हुआ। उनके सम्बन्ध में तो प्रसिद्ध है कि जिसके पीछे पड़ गये उसको धूल में मिला कर ही दम लिया। अब भी उन्हें हरिश्चन्द्र को सत्य

धर्म से विचलित कर देने की आशा थी, इसलिए वे बराबर कुछ-न-कुछ षड्यन्त्र रचते ही रहे।

रोहिताश्व ब्राह्मण की ठाकुर-पूजा के लिए प्रतिदिन उपवन में पुष्प चुनने जाया करता था। एक दिन विश्वामित्रजी योग-शक्ति द्वारा सर्प का रूप धर उसी वाटिका में पहुँच गए और फूल तोड़ते हुए रोहिताश्व को उन्होंने डस लिया! भयंकर विषधर के काटते ही रोहित की मृत्यु हो गई! साथी बालकों ने जिस समय यह दुःखद संवाद शैब्या को सुनाया तो उसका हृदय धक् से रह गया! रानी के नेत्रों से अश्रु-धारा बहने लगी! बेचारी का घर छूटा, पति से वियोग हुआ, रानी से दासी बनी! केवल पुत्र साथ था, उसी का मुख देखकर वह अपने विपत्ति के दिन काटती थी। दुर्दैव से यह भी न देखा गया। उस समय रानी के दारुण दुःख का ठिकाना न था! बेचारी पर विपत्ति का जो पहाड़ टूटा उसे वही जानती थी। शैब्या ने पुत्र का दाह-संस्कार करने के लिए ब्राह्मण से आज्ञा माँगी, पर उस निर्दय ने कह दिया—"घर का काम पूरा करके जा सकती हो।"

घर का काम समाप्त कर सन्ध्या समय रानी बाग़ में पहुँची और अपने बच्चे के मृत शरीर को गोद में उठा विलाप करने लगी। उस समय रानी का करुण-क्रन्दन सुन कठोर हृदय भी काँप गये। चेतनों की तो बात ही क्या, जड़ भी रोने लगे। ज्यों-त्यों धैर्य धारण कर शैब्या अपने प्यारे पुत्र का शव दाह-क्रिया के लिए श्मशान की ओर ले चली। कुछ वस्त्र न होने के कारण बेचारी ने अपनी आधी साड़ी फाड़कर उसका कफ़न बनाया। आह! चक्रवर्ती राजा के पुत्र को आज कफ़न तक पैदा नहीं! वाह रे ईश्वर तेरी लीला!

श्मशान में पहुँच रानी दूसरे शवों की अधजली लकड़ियाँ बीनकर चिता बनाती और रोती जाती थी। 'हा बेटा! तेरे पिता इस समय न जाने कहाँ होंगे। उनसे कौन जाकर कहेगा कि तुम्हारा एकलौता रोहित अब इस संसार में नहीं रहा! स्वामी! कहाँ हो, आओ और अपने इस लाड़ले लाल की दशा देखो! प्राणनाथ! तुमने तो मुझे त्यागा ही था, अब यह तुम्हारा पुत्र भी मुझे छोड़ चला!" समीप ही एक वृक्ष की आड़ में बैठे, मरघट की देखभाल करते हुए हरिश्चन्द्र को, शैव्या का रोदन सुन, स्थिति समझने में देर न लगी। वह तुरन्त रानी के पास पहुँचे। एक ने दूसरे को पहचाना और दोनों बड़ी देर तक बिलख-बिलख कर रोते रहे। फिर हरिश्चन्द्र ने कहा—"देवि! अब अधिक रोने-झीखने का समय नहीं है, भगवान् की ऐसी ही इच्छा थी। रात्रि बहुत हो चुकी है, इसलिए आधा कफ़न तथा एक टका मुझे दो और पुत्र का दाह करके घर जाओ।" रानी बोली—"महाराज, कफ़न और टका मेरे पास कहाँ! आप देखते नहीं, अपनी आधी धोती फाड़कर उसमें रोहित को लपेट लाई हूँ। क्या आप अपने बेटे से भी कर लेंगे! सो भी ऐसी दशा में जब मैं सब भाँति देने में असमर्थ हूँ।" हरिश्चन्द्र ने उत्तर दिया—"देवि, स्वामी की आज्ञा ऐसी ही है। मुझे किसी पर कर छोड़ने का अधिकार नहीं। हरिश्चन्द्र अपने स्वामी के साथ विश्वासघात नहीं कर सकता! कुछ भी हो, तुम्हें कफ़न और कर देना ही पड़ेगा।"

यह कहकर राजा ने उसी पुरानी धोती के टुकड़े के लिए हाथ बढ़ा दिया। इसी समय देवराज इन्द्र, धर्मराज और विश्वामित्र ने प्रकट होकर, राजा का हाथ पकड़ लिया तथा आकाश से पुष्प-वृष्टि होने लगी। धर्मराज और इन्द्र ने

कहा—"पुत्र हरिश्चन्द्र ! तुम्हारी परीक्षा हो चुकी। तुम हमारी जाँच में पूरे उतरे। तुम्हारे समान दृढ़प्रतिज्ञ तथा सत्यवादी न कोई हुआ और न होगा। वत्स ! हम तुम्हारे धर्म-प्रेम से परम प्रसन्न हुए हैं। यह सब षड्यन्त्र केवल तुम्हारी परीक्षा के लिए रचा गया था। राजकुमार रोहिताश्व के प्राण भी विश्वामित्र ने अपने योगबल द्वारा लिए थे। अब हम लोग उसे जीवन-दान देकर, तुम्हारा राज्य तुमको लौटाते हैं। रानी और तुम्हें ख़रीदने वाले भी हम ही थे। यथार्थ में न तुम कहीं बिके हो और न किसी के दास हो। अब तुम अपनी राजधानी को लौट जाओ और आनन्दपूर्वक प्रजा-पालन करो। इसके पश्चात् विश्वामित्र ने अपनी योग-क्रिया द्वारा रोहिताश्व को जीवित कर दिया, जिससे राजा तथा रानी के हर्ष का ठिकाना न रहा और वे अपने भाग्य को सराहने लगे।

भीष्म पितामह

भीष्मजी का असली नाम देवव्रत था। अनेक भीषण प्रतिज्ञाएँ करने और उन्हें प्राण-पण से पालने के कारण ही ये भीष्म नाम से प्रसिद्ध हुए और वृद्ध होने पर भीष्म पितामह कहलाये। भीष्म के पिता का नाम शान्तनु और माता का गंगादेवी था। गंगादेवी ने भीष्म से पूर्व अपने सात पुत्र पुण्य-सलिला भगवती भागीरथी में प्रवाहित कर दिए थे। उन्होंने ऐसा क्यों किया, इस सम्बन्ध में पौराणिकों ने अनेक कल्पनाएँ की हैं, परन्तु तथ्य क्या था, यह भगवान् ही जाने। भीष्मजी के वयस्क होने पर उनकी माता का स्वर्गवास हो गया। गंगादेवी के वियोग से महाराज शान्तनु को बड़ा दुःख हुआ। इसका एकमात्र कारण शान्तनु की इन्द्रियासक्ति और विलास-प्रियता थी। प्रौढ़ावस्था को प्राप्त होकर भी शान्तनु संयमशील न हो सके थे। इस सम्बन्ध में यह कहना भी अनुचित न होगा कि भीष्मजी को शान्तनु की इन्द्रिय-लोलुपता के ही कारण आजन्म ब्रह्मचारी रहने और राजगद्दी पर न बैठने की भयंकर प्रतिज्ञा करनी पड़ी थी। कहते हैं, एक दिन शान्तनु रविनन्दिनि यमुना के किनारे आखेट को गए हुए थे। वहाँ एक मल्लाह की रूपवती कन्या को देख कर उनका चित्त चलायमान हो गया। वे अपने मन पर निग्रह न कर सके और येन केन प्रकारेण शीघ्रातिशीघ्र उस धीवर-सुता को प्राप्त करने के लिए आतुर हो उठे। उन्होंने उस लड़की के पिता को अपना प्रस्ताव सुनाया। शान्तनु का प्रस्ताव सुन मल्लाह बोला—"महाराज, दुर्भाग्य या सौभाग्य से कन्या ने

घर में जन्म लिया है। अब वह विवाह-योग्य भी हो गई है। किसी-न-किसी के साथ उसे विवाह-बन्धन में बाँधना ही पड़ेगा। इससे अधिक सौभाग्य की बात और क्या हो सकती है कि मेरी पुत्री सत्यवती भारत-सम्राट् की पटरानी बने। मुझे आपका प्रस्ताव स्वीकृत है। परन्तु आपको यह प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि आपके पश्चात् मेरी कन्या के गर्भ से उत्पन्न बालक ही गद्दी पर बैठे। आप यह वचन मुझे दें तो मैं विवाह करने को उद्यत हूँ। महापराक्रमी गंगा-पुत्र भीष्म के होते हुए, शान्तनु मल्लाह को उक्त वचन न दे सके और चिन्तित मन राजधानी को लौट आए।

राजा शान्तनु परम सुन्दरी सत्यवती के लिए मन ही मन उदास और दुखी रहने लगे और धीरे-धीरे उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। भीष्म ने पिता की ऐसी दशा देख उसका कारण जानने की चेष्टा की। अन्त में उन्हें उनकी मनोव्यथा के मूल कारण का पता लग गया। सब वृत्त अवगत होते ही भीष्मजी के हृदय में पिता के प्रति कर्त्तव्य-पालन की भावना जाग उठी। वे महाराज शान्तनु से बिना कुछ कहे-सुने मल्लाह के पास पहुँचे और उससे सत्यवती को अपनी विमाता के रूप में माँगा। मल्लाह ने भीष्मजी से भी वही बात कही जो शान्तनु से कही थी। इस पर भीष्मजी बोले—"इस समय हस्तिनापुर की गद्दी का अधिकारी मैं ही हूँ, सो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आजन्म राजसिंहासन पर नहीं बैठूँगा। अब तुम्हें निश्चिन्त और निःसंकोच भाव से अपनी कन्या महाराज को दे देनी चाहिए।" भीष्मजी की प्रतिज्ञा सुन निषाद-राज को कुछ सन्तोष हुआ। थोड़ी देर सोच-विचार कर वह फिर बोला—"हे गांगेय! आपने तो पितृ-भक्ति के आवेश में

आकर यह प्रण कर लिया और मुझे विश्वास है कि आप यथा सम्भव इसका पालन भी करेंगे। परन्तु आपके पश्चात् आपकी सन्तान भी मेरे धेवतों के साथ इसी नियम से वरतेगी तथा सत्यवती के पुत्रों से राज्य न छीनेगी इसके लिए आपके पास क्या उपाय है। कदाचित् आगे चलकर आपके पुत्रों और मेरी कन्या के पुत्रों में मनोमालिन्य उत्पन्न होकर गृह-कलह का सूत्रपात हुआ तो कुरुवंश के लिए यह सम्बन्ध अति अनिष्टकर सिद्ध होगा। इस भय का भी प्रतीकार यदि आप कुछ कर सकें तो मुझे अपनी कन्या देने में कोई हिचकिचाहट नहीं है।"

मल्लाह की बात सुन भीष्मजी बोले—"निषादराज, यदि आपका यही भय पूज्य पिताजी की इच्छापूर्ति में बाधक है, तो मैं भगवान् को साक्षी देकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि आजन्म विवाह न करूँगा, ऐसी दशा में मेरी सन्तान का प्रश्न ही न उठेगा। अब तो आप निर्भय होकर सत्यवती पिताजी के लिए दे दीजिए।" इस पर मल्लाह ने अपनी पुत्री भीष्मजी के साथ करदी और वे उसे बड़े आदरपूर्वक रथ में बिठा घर लाए। शान्तनु को जब भीष्मजी के उद्योग और उनकी प्रतिज्ञाओं का पता लगा, तो वे उनसे अति प्रसन्न हुए। उन्होंने भीष्मजी के लिए आशीर्वाद दिया—"हे पुत्र, तू ने मेरे लिए जो आदर्श और अनुपम त्याग किया है, इसके बदले में मैं तुझे वरदान देता हूँ कि तेरी इच्छा-मृत्यु होगी। काल की सामर्थ्य नहीं जो तुझे मार सके। जब तू चाहेगा तब मरेगा।"

कालान्तर में सत्यवती के गर्भ से चित्रांगद और विचित्र-वीर्य दो पुत्र उत्पन्न हुए। महाराज शान्तनु के स्वर्गवासी होजाने पर भीष्मजी ने चित्रांगद को राजगद्दी पर बिठाया और आप

मन्त्री की भाँति सब शासन-कार्य करते रहे कुछ दिनों बाद चित्रांगद के एक गंधर्व द्वारा मारे जाने पर विचित्रवीर्य का राज्यतिलक किया गया। विचित्रवीर्य के वयस्क होने पर भीष्मजी उसके विवाह का विचार करने लगे। उन्हीं दिनों काशी-नरेश की अम्बा, अम्बालिका और अम्बिका नामक तीनों कन्याओं का एक साथ स्वयंवर होने की सूचना भीष्मजी को मिली। वे तुरन्त काशी पहुँचे और वहाँ हज़ारों राजाओं के बीच से तीनों कन्याओं का हरण कर लाए। उन दिनों क्षत्रियों में बल-पूर्वक लड़कियों को छीन लाना निन्द्य नहीं प्रत्युत श्लाघ्य समझा जाता था। भीष्म ने तीनों कन्याओं में से बड़ी अम्बा को शाल्वराज के पास भेज दिया क्योंकि वह पहले ही उन्हें अपना पति निर्वाचित कर चुकी थी, और शेष दोनों का विवाह विचित्रवीर्य के साथ कर दिया। उधर अम्बा शाल्व-राज के पास पहुँची तो उन्होंने उसे यह कह कर त्याग दिया कि तू स्वयंवर से हरी जा चुकी है, अतः मैं तेरे साथ विवाह नहीं कर सकता। अम्बा लौट कर भीष्मजी के पास आई और बोली—"अब मैं कहाँ जाऊँ। तुम मुझे हरण करके लाए हो इसलिए तुम्हें मेरे साथ विवाह भी करना चाहिए।" भीष्मजी ने अपनी पूर्व प्रतिज्ञा सुनाकर अम्बा को टाल दिया। इस पर वह परशुरामजी को साथ लेकर पुनः आई। परशुराम ने भीष्मजी से कहा—"या तो आप अम्बा के साथ विवाह करें अथवा मेरे साथ युद्ध करने को तय्यार हो जायँ।" परशुराम उन दिनों धनुर्वेद के आचार्य और सर्वश्रेष्ठ योद्धा समझे जाते थे। कोई भी वीर युद्ध में उनके सामने न पड़ता था। परन्तु भीष्मजी उनसे लोहा लेने के लिए सन्नद्ध हो गए। भीष्म और परशुराम का लगातार सत्ताईस दिनों तक घोर संग्राम हुआ और अन्त में भीष्मजी की जीत हुई।

कुछ दिनों बाद विचित्रवीर्य भी क्षय-रोग से पीड़ित होकर निस्संतान स्वर्ग सिधार गया। अब हस्तिनापुर में न तो कोई सिंहासन पर बैठने वाला रहा और न कुरुवंश को आगे चलाने वाला। सत्यवती ने जब वंश-क्षय होते देखा, तो भीष्मजी से विवाह कर लेने के लिए अत्यधिक आग्रह किया। पर वे भला अपनी प्रतिज्ञा से कब टलने वाले थे। अब सत्यवती कुल-क्षय के भय से अति चिन्तित रहने लगी। अन्त में उन्होंने व्यासजी को बुलाकर उनसे कुरु-कुल की रक्षा के लिए प्रार्थना की। सत्यवती की आज्ञानुसार व्यासजी ने अपने तपः प्रभाव से एक-एक पुत्र अम्बिका और अम्बालिका को तथा एक पुत्र तीसरी दासी को प्रदान किया। ये तीनों धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर नाम से प्रसिद्ध हुए। तीनों राजकुमारों में सब से बड़े धृतराष्ट्र तो अंधे थे और विदुर दासी-पुत्र होने के कारण गद्दी के अधिकार से वञ्चित थे, अतः पाण्डु को ही भीष्मजी ने राज्य पर अभिषिक्त किया और आप स्वयम् पहले की तरह सम्पूर्ण राज-काज की देख-भाल करते रहे। समय आने पर भीष्म ने तीनों राजकुमारों के विवाह कराए। जिनमें बड़े धृतराष्ट्र की रानी गाँधारी के गर्भ से दुर्योधन आदि सौ पुत्र हुए जो कौरव कहाए। दूसरे पाण्डु की कुन्ती एवं माद्री दो रानियों से युधिष्ठिर आदि पाँच पाण्डवों का जन्म हुआ। समर्थ होने पर, सब राजकुमार शस्त्र तथा शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए गुरु द्रोणाचार्य को सौंपे गए और सब बालक आनन्द-पूर्वक शस्त्रास्त्र विद्या सीखने लगे।

बड़े होने के कारण पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया गया। दुर्योधनादि कौरव जन्म से

ही बड़े लोभी, दम्भी और दुराचरण युक्त थे। वे अपने चचेरे भाई पाण्डवों के सद्गुणों को देखकर सदा जलते और अकारण ही उनसे शत्रुता रखते थे। आगे चलकर कौरव-पाण्डवों के पारस्परिक मनोमालिन्य ने और भी भीषण रूप धारण कर लिया। महाराज पाण्डु के स्वर्गवासी हो जाने पर तो कौरवों की स्वेच्छाचारिता और भी बढ़ गई। यहाँ तक कि उनके दुराचरण सीमा को अतिक्रमण करने लगे। दुर्योधनादिकों के अत्याचारों से त्रस्त होकर पाण्डवों ने अलग होना चाहा और अपना आधा राज्य माँगा। कौरव इस बात से सहमत न हुए। अन्त में कौरव-पाण्डवों के मध्य भीषण संग्राम हुआ, जो महाभारत के नाम से प्रसिद्ध है। इस महासमर में देश-देशान्तरों के सैकड़ों राजाओं ने भाग लिया। दोनों ओर से अठारह अक्षौहिणी सेना कुरुक्षेत्र के विशाल मैदान में एकत्र हुई।

भीष्मजी बहुत वृद्ध हो जाने के कारण अब 'पितामह' कहे जाने लगे थे। भीष्म पितामह हृदय से तो पाण्डवों को ही चाहते थे, क्योंकि उनका पक्ष धर्मयुक्त था, परन्तु उस समय राज-सिंहासन पर धृतराष्ट्र विराजमान थे, अतः भीष्म को उन्हीं के अधिकार में रहना पड़ता था। यही कारण था कि महायुद्ध में भीष्म को कौरवों की ओर से लड़ना पड़ा। हाँ, समय-समय पर अपनी शुभ सम्मति प्रदान कर वे पाण्डवों की सहायता भी करते रहते थे। भीष्म पितामह ने युद्ध में भी धर्म से मुँह नहीं मोड़ा। उन्होंने युद्ध के लिए ऐसे नियम बनाए कि किसी को अन्याय अथवा अधर्माचरण करने का लेशमात्र भी अवसर न मिले। भीष्मजी ने स्पष्ट घोषणा करदी थी, कि प्रत्येक योद्धा अपने समान बल और तुल्याधिकार

वाले से ही युद्ध करे। बिना सूचना दिए अचानक कोई किसी पर आक्रमण न करने पावे। अकेले व्यक्ति पर दो-चार वीर मिल कर हरगिज़ हमला न करें। सारथी, सेवक, वादक, श्रान्त, विपन्न, असावधान और युद्ध-विरत को कोई न छेड़े। सन्ध्या समय युद्ध समाप्त होने पर दोनों पक्षों के लोग परस्पर प्रेम-पूर्वक मिलें-जुलें।

पितामहजी के सेनापतित्व में उक्त सभी नियमों का पूर्ण रूप से पालन किया गया। दस दिनों तक युद्ध करके भीष्म पितामह ने बड़े-बड़े वीर युवक योद्धाओं के मुँह मोड़ दिए। वे प्रतिदिन पाण्डवों की दस सहस्र सेना का संहार करके दम लेते थे। भगवान् कृष्ण ने युद्ध में सम्मिलित होते समय प्रतिज्ञा की थी कि मैं लड़ाई में शस्त्र नहीं उठाऊँगा; पर भीष्म ने तीसरे दिन ही कृष्ण की प्रतिज्ञा भंग करा दी। आखिर भीष्मजी के भीषण आघातों से सेना की रक्षा करने के लिए कृष्ण ने रथ का पहिया उठा ही लिया।

जब पाण्डवों की सैन्य-शक्ति अधिकाधिक क्षीण होने लगी तो उन्होंने एक दिन भीष्मजी के पास जा कौरवों पर विजय पाने का उपाय पूछा। भीष्मजी बोले—"भाई, मैं जब तक हथियार चलाने योग्य हूँ तब तक तो तुम कौरवों को जीत नहीं सकते। यदि तुम मुझे मार डालो तो तुम्हारी जीत भी हुई रक्खी है।" इस पर अर्जुन ने कहा—"महाराज, आप तो अजेय हैं, मृत्यु आपके अधीन है, फिर भला, आपको कौन और कैसे मार सकता है।" इसके उत्तर में भीष्मजी ने बताया कि यदि शिखण्डी को सेनापति बना कर तुम लड़ोगे तो उस समय मैं शस्त्र नहीं चलाऊँगा। उस दशा में तुम मुझे मार तो क्या सकोगे—हाँ, बाणों से बींधकर तुम मुझे युद्ध के

अयोग्य अवश्य बना सकते हो। बस फिर कौरवों को परास्त करना तुम्हारे लिए बाएँ हाथ का खेल रह जायगा।

दूसरे दिन भीष्मजी की सम्मति से ही काम किया गया। अर्जुन के तीखे तीरों से बिंधकर भीष्मजी मूर्च्छित हो गिर पड़े। युद्ध उसी समय बन्द कर दिया गया। कौरव-पाण्डव सब भीष्मजी के समीप एकत्र हो गए। दुर्योधन एक शल्य-चिकित्सक को ले आया, परन्तु भीष्मजी ने उससे चिकित्सा कराना तो दूर, अपना शरीर स्पर्श करने के लिए भी निषेध कर दिया। उस समय भीष्मजी के शरीर में इतने बाण छिदे हुए थे कि उनका शरीर भूमि तक न जाकर बाणों पर ही टँग गया। बाणविद्ध पितामह का सिर नीचे लटक रहा था। इसके लिए उन्होंने कुछ सहारा लगा देने को कहा। दुर्योधनादिक तुरन्त ही बड़े मूल्यवान गुद-गुदे तकिए लेकर दौड़े, पर भीष्मजी ने उन सब के लगाने से इनकार कर दिया और वह अर्जुन से बोले—"वत्स, मेरी इस वीर-शैया के अनुरूप तुम्हीं कोई तकिया दो।" पितामह का संकेत पाते ही अर्जुन ने तीन बाण लेकर उनके सिर के नीचे लगा दिए। भीष्मजी अर्जुन के इस काम से अत्यन्त प्रसन्न हुए। इसी भाँति प्यास लगने पर भीष्मजी ने पानी माँगा। कौरवों ने तुरन्त सोने-चाँदी के पात्रों में शीतल जल लाकर उपस्थित किया। भीष्मजी ने कहा—"भाई, अब मैं शर-शैया पर सोता हुआ तुम्हारे लोक से नितान्त पृथक् होने के कारण लौकिक वस्तुओं का उपभोग नहीं करना चाहता। अर्जुन को बुलाओ, वही मुझे जल देगा।" इतना सुनते ही अर्जुन ने एक ऐसा बाण मारा कि वह भूगर्भ को चीरता हुआ सीधा पाताल लोक तक चला गया। उसी छिद्र में से निर्मल जल की एक धारा निकली

जिसमें से भीष्मजी ने जलपान कर अपनी प्यास बुझाई। इस भाँति लगभग दो मास तक भीष्मजी उसी शर-शय्या पर पड़े हुए, ऋषि-मुनियों और जिज्ञासुओं को विविध प्रकार से धर्मोपदेश देते रहे। उस समय पितामह धर्म की जटिल गुत्थियों को इस प्रकार सुलझा कर समझाते थे कि लोगों को समझने में तनक भी देर न लगती थी। राज-धर्म, मोक्ष-धर्म, आपद्धर्म आदि गहन विषयों पर भीष्मजी के भाषण सुनने के लिए दूर-दूर से ऋषि-मुनि, विद्वान्, संन्यासी, ब्रह्मचारी और गृहस्थ आते थे।

पूरे अट्ठावन दिन शर-शैया पर पड़े रहने के बाद जब उत्तरायण काल आ गया, तब भीष्मजी ने मरने की इच्छा की और उसी समय वह पाञ्च-भौतिक शरीर त्याग कर परमानन्द में लीन हो गए। भीष्मजी आज इस संसार में नहीं हैं, पर उनकी अजरा-अमरा कीर्ति अब भी जगत् के परमाणु-परमाणु में व्याप्त हो रही है। अपने अद्भुत, अलौकिक और आदर्श गुणों के कारण निस्सन्तान होते हुए भी भीष्मजी सारे संसार के 'पितामह' बन गए।

महात्मा गौतम बुद्ध

महात्मा गौतम बुद्ध

संसार में जितने महान् पुरुष हो गए हैं, उनमें से अधिकतर इस सजला-सफला, ऋषि-मुनि सेविता भारत-भूमि में ही उत्पन्न हुए हैं। भारत-वसुन्धरा रत्न-गर्भा होने के साथ ही वीर-प्रसू भी है। इसे अनेक धर्मवीर, दयावीर, ज्ञानवीर, दानवीर, सत्यवीर, प्रणवीर, रणवीर इत्यादि महापुरुषों को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त है। इसके पुत्रों में से किसी ने अपने विशुद्ध धर्म-ज्ञान द्वारा धार्मिक जगत् में हलचल मचाई तो किसी ने अपनी आदर्श और उच्च नीति-निपुणता से राजनैतिक संसार का तख़्ता पलट दिया। कोई साहित्यिक क्षेत्र में क्रान्ति कर गया तो किसी ने समाज-सुधार के मैदान को अपना क्रीड़ा-स्थल बनाया। एक धर्म-प्रचार के लिए प्राणों की बलि दे गया तो दूसरा अपने अनवरत अध्यवसाय द्वारा व्यापारिक बीहड़ वन को सुरम्य वाटिका के रूप में परिणत कर गया। जिन गौतम बुद्ध को लोग ईश्वर का अवतार मानते हैं, तथा एक तिहाई दुनिया जिनके मत का अनुसरण कर रही है, वह भी इसी भारत-माता के सपूत थे।

आज से प्रायः ढाई हज़ार वर्ष पूर्व की बात है, उत्तर भारत में कपिलवस्तु नामक एक विशाल और सुख-समृद्धि-सम्पन्न शाक्यवंशीय राजाओं की राजधानी थी। वहाँ परम प्रतापी, प्रजा-प्रिय, धर्म-प्राण, क्षात्र-तेज समन्वित शुद्धोदन नामक राजा राज्य करते थे। इन्हीं की धर्मशीला धर्मपत्नी महारानी मायादेवी के गर्भ से महात्मा बुद्धदेव का जन्म

महात्मा गौतम बुद्ध

महात्मा गौतम बुद्ध

संसार में जितने महान् पुरुष हो गए हैं, उनमें से अधिकतर इस सजला-सफला, ऋषि-मुनि सेविता भारत-भूमि में ही उत्पन्न हुए हैं। भारत-वसुन्धरा रत्न-गर्भा होने के साथ ही वीर-प्रसू भी है। इसे अनेक धर्मवीर, दयावीर, ज्ञानवीर, दानवीर, सत्यवीर, प्रणवीर, रणवीर इत्यादि महापुरुषों को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त है। इसके पुत्रों में से किसी ने अपने विशुद्ध धर्म-ज्ञान द्वारा धार्मिक जगत् में हलचल मचाई तो किसी ने अपनी आदर्श और उच्च नीति-निपुणता से राजनैतिक संसार का तख़्ता पलट दिया। कोई साहित्यिक क्षेत्र में क्रान्ति कर गया तो किसी ने समाज-सुधार के मैदान को अपना क्रीड़ा-स्थल बनाया। एक धर्म-प्रचार के लिए प्राणों की बलि दे गया तो दूसरा अपने अनवरत अध्यवसाय द्वारा व्यापारिक बीहड़ वन को सुरम्य वाटिका के रूप में परिणत कर गया। जिन गौतम बुद्ध को लोग ईश्वर का अवतार मानते हैं, तथा एक तिहाई दुनिया जिनके मत का अनुसरण कर रही है, वह भी इसी भारत-माता के सपूत थे।

आज से प्रायः ढाई हज़ार वर्ष पूर्व की बात है, उत्तर भारत में कपिलवस्तु नामक एक विशाल और सुख-समृद्धि-सम्पन्न शाक्यवंशीय राजाओं की राजधानी थी। वहाँ परम प्रतापी, प्रजा-प्रिय, धर्म-प्राण, क्षात्र-तेज समन्वित शुद्धोदन नामक राजा राज्य करते थे। इन्हीं की धर्मशीला धर्मपत्नी महारानी मायादेवी के गर्भ से महात्मा बुद्धदेव का जन्म

हुआ बुद्ध का असली नाम 'सिद्धार्थ था सिद्धार्थ का जन्म उत्कट उत्कण्ठा और अत्यन्त चाहना के समय, अनेक जप-तप और दान-अनुष्ठान करने पर हुआ था। इसलिए उनके जन्म के समय अत्यधिक प्रसन्नता मनाई गई। याचकों और ब्राह्मणों के लिए प्रचुर द्रव्य-दान दिया गया। उत्सव मनाये और बड़े समारोह से नवजात राजकुमार के जात-कर्म तथा नामकरणादि संस्कार कराए गए। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध दैवज्ञों को बुला कर शुभाशुभ लक्षणों द्वारा बालक का भविष्य बताने को कहा गया। गणकों ने विचार पूर्वक बतलाया कि यह बालक बड़ा प्रतापी और तेजस्वी होगा, साथ ही भूमण्डल पर इसका एकछत्र राज्य भी होना चाहिए। इन भविष्य-वक्ताओं की भविष्यवाणी आगे चल कर अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुई। यद्यपि सिद्धार्थ ने राज-सिंहासन पर आरूढ़ होकर पशु-बल द्वारा संसार का शासन नहीं किया तथापि विरक्त होकर आत्मिक शक्ति के प्रभाव से वे असंख्य हृदयों के एकछत्र सम्राट् अवश्य बन गए।

सिद्धार्थ का पालन-पोषण बड़े लाड़-चाव से हुआ। माता मायादेवी का सिद्धार्थ के जन्म-समय ही स्वर्गवास हो गया था, अतः उनका कार्य इनकी मौसी गौतमी को करना पड़ा। "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" वाली कहावत के अनुसार छोटी अवस्था से ही सिद्धार्थ में महत्ता और ज्ञान-विवेक के चिह्न प्रस्फुटित होने लगे थे। सिद्धार्थ में दूसरे बालकों के समान बालोचित चंचलता न थी, वे कभी किसी वस्तु के लिए हठ न करते थे। जब देखो तब एक ज्ञान-वृद्ध योगी के समान, गम्भीर मुद्रा बनाये न जाने वे क्या सोचा करते थे। पाँच साल की

अवस्था में, उन्हें विद्या पढ़ने के लिए गुरुकुल भेजा गया। परन्तु सिद्धार्थ को क्या पढ़ना और क्या सीखना था! उन्हें कोई क्या बतलाता और क्या समझाता! मोर कहीं रँगे नहीं जाते, वे तो स्वयं चिते-चिताए ही उत्पन्न होते हैं। इसी भाँति सिद्धार्थ के पूर्व संस्कारों का प्रसुप्त ज्वालामुखी, अनुकूल वातावरण पाते ही एक साथ जाग्रत हो उठा। गुरुकुल के शिक्षक और आचार्य सिद्धार्थ की प्रखर प्रतिभा प्रभा देख अवाक् रह गये। उन के अगाध ज्ञानागार और विशाल बुद्धि-भाण्डार के कारण अध्यापकों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सिद्धार्थ के अलौकिक क्रिया-कलाप, विरक्त एवं ज्ञानि-जनोचित वार्त्तालाप से सब को विश्वास होने लगा कि निश्चय ही यह बालक वीतराग महात्मा बनेगा।

महाराज शुद्धोदन को जब यह पता लगा कि सिद्धार्थ पंक-पूर्ण प्रवृत्ति-पथ का परित्याग कर अभी से निष्कण्टक और निर्द्वन्द्व निवृत्ति-मार्ग की ओर अग्रसर हो रहा है, तो उन्हें अत्यन्त चिन्ता होने लगी। वह सोचने लगे—"ज्यों-त्यों कर तो एक पुत्र प्राप्त हुआ, सो भी इस भाँति हाथ से निकला जाता है! रानी के मरने पर मैंने इसी को अपनी प्रेम-प्रवृत्तियों का केन्द्र बनाया था, इसी के मुख-मण्डल को देख कर रानी की वियोग-वेदना को भुलाया था और इसी का हाथ पकड़ कर मैं अपार शोक-सागर को पार कर पाया था, क्या अब यह भी विरक्त हो जायगा? क्या अब यह भी मेरे जीवन की जरा-जीर्ण नौका को निष्ठुरता और निर्भयता पूर्वक मँझधार में डुबा कर निवृत्ति-मार्ग का पथिक बन जायगा? नहीं, ऐसा न होगा, मैं अभी इस का उपाय करता हूँ।"

राजा शुद्धोदन ने अपने मुख्य मुख्य मन्त्रियों को बुलाकर निश्चित् किया कि सिद्धार्थ को शीघ्रातिशीघ्र विवाह-बन्धन में बाँध देना चाहिए। फिर वह निश्चय ही स्त्री के प्रेम-पाश को तोड़कर वैराग्य के बीहड़ वन की ओर न भाग सकेगा। इस विचार को तुरन्त कार्य-रूप में परिणत किया गया। सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा नामकी एक अत्यन्त सुन्दरी राजकन्या के साथ होगया। साथ ही उसके लिए एक विशेष प्रकार का विशाल भवन भी बनवाया गया। इस प्रासाद में देश-विदेशों से भोग-विलास की अनेक सामग्रियाँ मँगा-मँगा कर एकत्र की गईं। भाँति-भाँति के चित्रों से उसे सुसज्जित किया गया। राजोचित सभी सुख-साधन समन्वित उस सुन्दर सदन में युवराज सिद्धार्थ की सेवा-शुश्रूषा के लिए कितनी ही सुन्दरियाँ नियुक्त की गईं। अभिप्राय यह कि उस महल में सिद्धार्थ को जगज्जाल में फँसाने का पूरा प्रबन्ध था। राजकुमार को किसी भी काम के लिए बाहर न जाना पड़ता था। जल-क्रीड़ा, उद्यान-विहार, आखेट आदि सभी बातों की सुविधा उसके भीतर थी। राजा शुद्धोदन की यह युक्ति कुछ अंशों में सफल हुई। युवावस्था में पदार्पण कर युवराज सिद्धार्थ सांसारिक भोगों का उपभोग करने लगे। इसी बीच में उनके एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ, जिसका नाम राहुल रक्खा गया।

मनुष्य का स्वभाव सदा कुछ-न-कुछ नवीनता ही चाहा करता है। नवीनता में सौन्दर्य की आभा दिखाई देती और इसी में उसे सुख की उपलब्धि होती है। इसीलिए कवियों ने नवीनता का ही नाम रमणीयता रख दिया है। चिरकाल तक सुखों का उपभोग करते-करते भी मनुष्य का जी ऊब जाता है। अधिक मधुर

रसास्वादन करने से कुछ काल में उससे भी अरुचि होजाती है और जिह्वा खट्टे या नमकीन पदार्थों को चाहने लगती है। यही बात सिद्धार्थ के सम्बन्ध में भी हुई। बहुत दिनों तक एक ही स्थान और एकसे वातावरण में रहते-रहते उसका जी ऊब गया। फलतः उसे सुखोपभोगों से अरुचि और विरक्ति होने लगी। वह राज-प्रासाद उसे कारागार सदृश प्रतीत होने लगा। सिद्धार्थ ने महल से बाहर निकल कर घूमने-फिरने की इच्छा की। सेविकाओं ने युवराज की इच्छा तुरन्त महाराज शुद्धोदन को सुनाई और राजा ने भी पुत्र के लिए बाहर घूमने की समुचित व्यवस्था करदी।

नगर बड़ी सुन्दरता से सजाया जाने लगा। प्रधान पथों और प्रतोलियों पर सुगन्धित सलिल से सिंचन किया गया। स्थान-स्थान पर वितान ताने और तोरण बनाए गये। मार्गों और घरों में बन्दनवार बाँधे गये। विविध रंग-रंजित ध्वजा और पताकाएँ आकाश-मण्डल में लहराने लगीं। प्रजा-जनों को इस बात का बड़ा हर्ष हुआ कि बहुत दिनों बाद आज युव-राज के दर्शन होंगे। नियत समय पर सिद्धार्थ सुन्दर रथ में बैठ कर नगर-निरीक्षण को निकले। मार्ग में तथा छतों और अट्टालिकाओं पर नर-नारियों की भीड़ लगी हुई थी। चौराहों पर जनता ने युवराज के स्वागत-सत्कार का अपूर्व आयोजन किया था। राजकुमार के पुर में प्रवेश करते ही पौरजनों के जयघोष से आकाश गूँज उठा। लोगों के प्रणामादि का उचित उत्तर देते हुए सिद्धार्थ प्रसन्नतापूर्वक नगर निरीक्षण करने लगे।

घूमते-फिरते राजकुमार ने एक स्थान पर एक जरा-जीर्ण व्यक्ति को देखा। उसका शरीर सूखकर काँटा हो गया था,

अस्थि चर्म के सिवा शरीर पर माँस का नाम न था कमर झुककर कमान बन गई थी और बाल सन के समान श्वेत हो गये थे। आँखें इतनी बैठ गई थीं कि वे दिखाई न देती थीं। मुँह में देखने के लिए भी कोई दाँत न था। बेचारा लाठी के सहारे डगमगाता हुआ ज्यों-त्यों कर चल रहा था। युवराज ने ऐसा अनूठा दृश्य आज तक कभी न देखा था। वह तो जन्म से अब तक सुन्दरी युवतियों में रहा था, इस-लिए उसकी धारणा थी कि संसार में सदा सब लोग स्वस्थ, सुन्दर और युवक ही रहते हैं। वृद्ध को देखकर सिद्धार्थ के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने अपने सारथी से पूछा—"छन्दक, यह किस लोक का मनुष्य है। मैंने आज तक ऐसे आदमी के दर्शन नहीं किये।"

युवराज के इस अटपटे प्रश्न को सुन छन्दक को हँसी आगई। वह मुस्कराता हुआ कहने लगा—"युवराज, यह भी हमारी आपकी तरह किसी दिन युवक था, अब वृद्धावस्था ने इसकी यह दशा करदी है। हम-आपको भी एक दिन इस अवस्था में पदार्पण करना पड़ेगा। प्रत्येक देह-धारी के लिए बाल्य, यौवन, और वार्धक्य के पश्चात् एक दिन मरना अनिवार्य है। आप अब तक ऐसी जगह रहे हैं, जहाँ जरा, मृत्यु आदि की घटनाओं का देखना तो क्या सुनना भी असम्भव है। आपका वह छोटा-सा संसार सुख-समृद्धि का संसार है। महाराज, बाहर निकल कर देखिए, जगत् दुःखों और दुःखियों से भरा पड़ा है।"

प्रथम तो उस वृद्ध को देखकर ही सिद्धार्थ पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा था, छन्दक के कथन से उसमें और चार चाँद लग गए। युवराज की वैराग्य-वह्नि, जिसे महाराज शुद्धोदन ने

सांसारिक माया-जाल की राख से ढकने का असफल प्रयत्न किया था, इस घटना रूपी अनुकूल वायु के एक ही झोंके से प्रज्ज्वलित हो उठी। सिद्धार्थ ने सोचा—"अब तक मैं जिन सुखों का उपभोग कर रहा हूँ क्या वे अस्थायी हैं। क्या जगत् में शाश्वत सुख है ही नहीं! यदि नहीं, तो वह कहाँ है। अवश्य उसकी खोज करनी चाहिए।"

थोड़े दिनों बाद इसी भाँति नगर-निरीक्षण करते हुए युवराज ने एक दिन शव और दूसरे दिन एक दीन-हीन भिक्षुक को देखा। इन्हें देख कर तो सिद्धार्थ का कायापलट ही होगया। लोग नित्य अनेक घटनाएँ देखते हैं, पर उनकी वास्तविकता की ओर किसी का ध्यान भी नहीं जाता। साधारण जनता के लिए उनका कुछ भी मूल्य नहीं होता। संसार उन्हें देखता और तुरन्त भूल जाता है। पर वही साधारण दृश्य महापुरुषों के लिए बड़ा महत्त्व रखते हैं। एक महाकवि सामान्य ओस-बिन्दुओं या श्रम-सीकरों को देखकर कल्पनाकाश में ऊँची उड़ान भर, उस पर एक काव्य रच के रख देता है। क्या स्टीम इञ्जन के आविष्कारक से पहले किसी ने बटलोई में से भाप निकलते नहीं देखी थी! अवश्य देखी थी, परन्तु इञ्जन के आविष्कारक ने उसको दूसरे ही रूप में देखा और उसी विशेषता पूर्वक देखने के फल स्वरूप आज बड़े-बड़े इञ्जन वह काम करते दिखाई देते हैं, जिसे हज़ारों आदमी मिलकर भी नहीं कर सकते। ठीक यही बात सिद्धार्थ के जीवन में भी हुई। उसने वृद्ध और मृतक की घटनाओं को दूसरे ही स्वरूप में देखा और उसी क्षण उसे संसार से उपराम हो गया। महाराज शुद्धोदन ने बिसतन्तु से मत्त मातङ्ग को बाँधने, या तिनकों के ढेर से अग्नि-पुञ्ज को

ढकने के समान, जन्म जात विरक्त, निसर्ग-सन्यासी महात्मा सिद्धार्थ को स्त्री-पुत्रादिकों के प्रेम-पाश में बाँधकर रखना चाहा था, पर उनका वह प्रयास विफल हुआ। युवराज सिद्धार्थ ने भौतिक अस्थायी सुखों—नहीं-नहीं सुखाभासों का त्याग कर शाश्वत परमानन्द की खोज करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

युवराज ने संकल्प कर लिया कि घर-बार छोड़कर तथा साधु-संन्यासियों के सत्संग द्वारा सच्चा सुख प्राप्त करना चाहिए। अपने इसी दृढ़ निश्चय के अनुसार सिद्धार्थ एक रात को घर से निकल खड़े हुए। चलते समय वे एक बार अपने स्त्री-पुत्र को देखने के लिए उनके शयन-कक्ष में गये। देखा, यशोधरा दुग्धफेन सदृश स्वच्छ एवं शुभ्र बिछौने पर अपने पुत्र राहुल को लिए अचेत सो रही है। शयनागार में शरत्कालीन कुमुदिनी-नायक की कौमुदी छिटकी हुई है। शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर प्रसुप्त यशोधरा के केश-पाश और वस्त्रों से अठखेलियाँ कर रहा है। "क्या इस निरपराधिनी अर्धांगिनी को छोड़ दूँ। क्या इस अबोध शिशु से नाता तोड़ दूँ। नहीं, मेरे चले जाने पर यशोधरा अत्यन्त दुखी होगी, बेचारी रो-रो-कर पागल होजायगी। मा के साथ अनजान बालक भी कम कष्ट न भोगेगा। नहीं, स्वार्थ-सिद्धि के लिए आश्रितों को छोड़ कर भागना निन्दनीय कार्य है।" इस प्रकार सिद्धार्थ का नैसर्गिक स्नेह उन्हें संसार की ओर खींचने लगा। वे अपने निश्चय से विचलित होने लगे। उनकी इच्छा हुई कि बालक का मुँह चूमलें। एक पैर आगे बढ़ाया ही था कि एक साथ चौंक पड़े। "एं, यह निर्बलता मेरे हृदय में कहाँ से आई! अहा! मैंने भूल की, जो यहाँ आया। इन्हीं प्रलोभनों से तो

सांसारिक बन्धन दृढ़ होते हैं। नहीं, मुझे यहाँ पर अब एक क्षण भी नहीं ठहरना चाहिए।" यह सोच सिद्धार्थ तुरन्त वहाँ से चल दिए। उन्होंने पीछे फिर कर भी न देखा।

अभी प्रातःकाल होने में कुछ देर थी। प्राची दिशा नीली चादर को धीरे-धीरे हटाती जा रही थी। पक्षियों के कलरव से वन मुखरित हो रहा था। नदियों के नीरव नीर में शीतल समीर ने कम्पन उत्पन्न कर दिया था। प्रभात काल में खिलने वाले वन-कुसुमों के सौरभ को उषःकालीन वायु दूर-दूर तक फैला रहा था। शनैः-शनैः पूर्व के आकाश में कुछ अरुणिमा प्रसरित होने लगी। थोड़ी देर में भुवनभास्कर भानु भगवान् ने अपना मुँह चमकाया। उनकी आभा निर्मल नीर की लोल लहरियों पर थिरकने लगी। देखते ही देखते नदी में चामीकर की चमचमाती चादर-सी बिछ गई। ऐसे ही सुखमय समय में, कपिलवस्तु से दूर एक नदी किनारे शिला पर बैठे हुए सिद्धार्थ, उस नयनाभिराम दृश्य को निहार रहे थे। वे भगवान् के ध्यान में मग्न थे। उन्हें क्या पता कि मेरे चले आने से कपिलवस्तु में कैसा करुण-काण्ड उपस्थित हो रहा है! उन्हें क्या ख़बर कि इस समय रानी यशोधरा और महाराज शुद्धोदन पर कैसी बीत रही है!

युवराज सिद्धार्थ के जाते ही, थोड़ी देर में, रानी यशोधरा एक दुःस्वप्न देख कर चौंक पड़ीं। उठते ही उन्होंने दासी को आवाज़ दी। दासी तुरन्त दौड़ी आई। यशोधरा ने कहा—"शीघ्र ही युवराज को बुलाओ।" आज्ञा पाते ही दासी राजकुमार सिद्धार्थ के शयनागार में पहुँची तो वहाँ सिद्धार्थ न थे। उनके सब कपड़े जहाँ-के-तहाँ रक्खे थे, यहाँ तक कि जूते भी मौजूद थे। महल में इधर-उधर खोज की गई, पर

सिद्धार्थ वहाँ कहाँ थे ! जब यह समाचार महाराज शुद्धोदन को मिला तो उनके शोक की सीमा न रही। वे फूट-फूट कर रोने लगे। रानी यशोधरा की दयनीय दशा का तो कहना ही क्या ! शुद्धोदन ने सर्वत्र युवराज की खोज कराई पर कहीं उनका पता न लगा। अन्त में रो-धो कर सबने सन्तोष कर लिया।

घर से निकल, सिद्धार्थ वन-वन घूमने, ऋषि-मुनियों से मिलने और सच्चे सुख की खोज करने लगे। उन दिनों भारत में वाममार्गियों का ज़ोर था, हिंसा का बाज़ार गर्म था। धर्म के नाम पर निरपराध पशुओं की हत्या की जाती थी। देवी-देवताओं के बहाने, प्रतिदिन सहस्रों जीव, नर-पिशाचों की उदर-दरी में पहुँच जाते थे। महात्मा सिद्धार्थ ने, सबसे प्रथम इसी के विरुद्ध आवाज़ उठाई। लोगों को हिंसा के दोष दिखा कर, "अहिंसा परमोधर्मः" का उपदेश दिया। उन्होंने अस्तेय, असत्य-त्याग, अव्यभिचार, आदि अनेक धर्म के अंगों का प्रचार किया पर अहिंसा को सबसे मुख्य माना। इस भाँति प्रचार करते और उपदेश देते हुए, महात्मा सिद्धार्थ शिष्य बनाने लगे। ये शिष्य दो प्रकार के होते थे, एक गृहस्थ और दूसरे साधु। साधु शिष्य भिक्षु कहलाते थे और भिक्षा माँगकर अपना निर्वाह करते थे। सिद्धार्थ के बताये उपदेशों का प्रचार करना ही इनका कर्त्तव्य था। इस भाँति इनके सिद्धान्त प्रायः समस्त भारतवर्ष में फैल गए और धर्म के नाम पर पशु-हिंसा बहुत कुछ बन्द हो गई। पर सिद्धार्थ को अभी शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं हुई थी। इसके लिए इन्होंने गया तीर्थ में जा, छै वर्ष तक घोर तपस्या की। छै वर्ष पीछे जब इनकी समाधि खुली, तो इनको सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् का बोध हो गया। इसी लिए उस दिन से, इनका नाम बुद्ध

पड़ गया। बुद्धदेव की तपस्या का स्थान 'बुद्ध गया' और वह वृक्ष जिसके नीचे उन्होंने तप किया था, बोधी-वृक्ष के नाम से आज भी प्रसिद्ध है।

बुद्ध हो जाने के पश्चात् सिद्धार्थ ने अपने सिद्धान्तों का और भी अधिक प्रचार किया। बुद्ध अपने विचारों को बल पूर्वक कभी किसी से न मनवाते थे। उनका कथन था, कि मेरी बात सुनलो और उसे भले प्रकार सोचो-विचारो। यदि अनुकूल प्रतीत हो, तो उसके अनुसार आचरण करो अन्यथा मत करो। बुद्ध के सिद्धान्त थे भी बुद्धिसंगत और समया-नुकूल। वे जिसे समझाए जाते वही इनके मत में सम्मि-लित होजाता। अनेक बड़े-बड़े राजाओं को भी बुद्ध ने अपना शिष्य बनाया। इस प्रकार जब भारत के कोने-कोने में बौद्ध-मत का प्रचार हो गया, तो उन्होंने अपने शिष्यों को विदेशों में भेजा। वहाँ भी इनके सिद्धान्तों का आशातीत सफलता से प्रसार हुआ। इस भाँति लंका, चीन, जापान आदि अनेक देश बौद्धमत के अनुयायी हो गए।

कुछ काल पश्चात् बुद्धदेव पिता के दर्शन करने की अभिलाषा से कपिलवस्तु पहुँचे। उन्हें नगर में आया देख पुरवासियों को परम प्रसन्नता हुई। महाराज शुद्धोदन और रानी यशोधरा के हर्ष का तो वार-पार न था। बुद्ध ने सबको धर्मोपदेश दिया और अपनी स्त्री यशोधरा से कहा—"तुम मेरी अर्धाङ्गिनी हो, इसलिए तुमको भी मेरे साथ चल कर प्रचार करना चाहिए। पति की आज्ञा से यशोधरा ने भी संन्यास ग्रहण कर लिया। उनके साथ नगर की अन्य अनेक स्त्रियाँ भी बौद्ध भिक्षुका बन गईं। रानी यशोधरा इन सबका नेतृत्व करने लगीं और महिलाओं की मण्डली, बड़ी धूम के साथ, बौद्ध-धर्म के प्रचार में लग गई।

बुद्ध जिस विचार को लेकर घर से निकले थे, अन्त में उनका वह शुभ संकल्प पूरा हो गया। वे दुखों को दूर कर सच्चे आनन्द की खोज में निकले थे। उसे उन्होंने पा लिया। बुद्ध ने तपस्या की, सोचा-विचारा। अन्त में इस निश्चय पर पहुँचे, कि जगत् में जीव अपने अशुभ कर्मों के कारण क्लेश पा रहे हैं। इन कर्मों का परित्याग करदें, तो दुखों से भी उनका त्राण हो जायगा। इसीलिए बुद्ध ने अशुभ कर्मों के त्याग और आत्म-चिन्तन का उपदेश दिया।

इस प्रकार पैंतालीस वर्ष तक लगातार बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के पश्चात्, अस्सी साल की पूर्णायु में, गौतम-बुद्ध ने निर्वाण पद प्राप्त किया। उस समय वे कुशीनगर में ठहरे हुए थे। अन्तिम काल में गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों को पास बुलाया और उनसे कहा—"पुत्रो, मैं जिस काम के लिए जगत् में आया था, वह अब पूरा हो गया। अब तुम लोग मेरे बताए नियमों का पालन तथा प्रचार करना, बस यही मेरा अन्तिम उपदेश है।" इतना कह बुद्ध ने इस भौतिक शरीर को त्याग दिया और उनकी आत्मा परमात्मा में लीन हो गई।

बौद्ध-धर्म का साहित्य बहुत बड़ा है। बुद्ध के सभी अन-मोल उपदेश पुस्तकरूप में मिलते हैं। ये सब प्राकृत (पाली) भाषा में हैं।

महात्मा बुद्धदेव को मरे आज ढाई हजार वर्ष होगए पर उनका क्रिया-कलाप आज भी संसार के सामने मौजूद है। आज तक जितने मत प्रचलित हुए, उनमें से किसी ने भी बौद्ध-धर्म के बराबर प्रचार नहीं पाया।

पृथ्वीराज

महाराज पृथ्वीराज चौहान, जिस समय देहली और अजमेर में शासन कर रहे थे, उस समय देश की बड़ी विचित्र दशा थी। राजपूतों में परस्पर युद्ध छिड़े हुए थे, एक भाई दूसरे के रक्त का प्यासा बना हुआ था। परस्पर सद्भाव की कमी और अनेकता की वृद्धि होती जाती थी। विदेशी आक्रमणकारी भारत पर अपना अधिकार करने के लिए लालायित हो रहे थे। वे हिन्दू नरेशों की फूट से लाभ उठा कर, अपना आतङ्क स्थापित करने की ध्रुव धारणा रखते थे। महाराज पृथ्वीराज जिन्हें राय पिथौरा भी कहते हैं, चौहान वंशधर थे। उनकी वीरता, सुजनता, धर्मशीलता और रणकुशलता की प्रशंसा घर-घर होने लगी थी। यहाँ तक कि कट्टर शत्रु भी पृथ्वीराज की प्रभुता का सिक्का मानते और उनकी योग्यता का आदर करते थे। अधिकांश हिन्दू राजे पृथ्वीराज को सम्राट् मान कर उन्हें वार्षिक कर देते और उनका आदेश प्राप्त किये बिना कोई काम न करते थे। परन्तु राठौर वंशोद्भव कन्नौज-नरेश जयचन्द, अपनी सत्ता-महत्ता के आगे, पृथ्वीराज को आदर की दृष्टि से न देखता था। उसके हृदय में दिल्लीपति के विरुद्ध सदैव ईर्ष्या और द्वेष की अग्नि धधकती रहती थी। जयचन्द अनेक बार कह चुका था, कि जब तक पृथ्वीराज उसे अपना सम्राट् स्वीकार न करेगा तब तक परस्पर सद्भाव की स्थापना कभी नहीं हो सकती। जयचन्द की राज्य-सीमा, बनारस और बुन्देलखण्ड तक फैली हुई थी। उधर पृथ्वीराज जयचन्द से किस बात में कम थे, जो

पृथ्वीराज

महाराज पृथ्वीराज चौहान, जिस समय देहली और अजमेर में शासन कर रहे थे, उस समय देश की बड़ी विचित्र दशा थी। राजपूतों में परस्पर युद्ध छिड़े हुए थे, एक भाई दूसरे के रक्त का प्यासा बना हुआ था। परस्पर सद्भाव की कमी और अनेकता की वृद्धि होती जाती थी। विदेशी आक्रमणकारी भारत पर अपना अधिकार करने के लिए लालायित हो रहे थे। वे हिन्दू नरेशों की फूट से लाभ उठा कर, अपना आतङ्क स्थापित करने की ध्रुव धारणा रखते थे। महाराज पृथ्वीराज जिन्हें राय पिथौरा भी कहते हैं, चौहान वंशधर थे। उनकी वीरता, सुजनता, धर्मशीलता और रणकुशलता की प्रशंसा घर-घर होने लगी थी। यहाँ तक कि कट्टर शत्रु भी पृथ्वीराज की प्रभुता का सिक्का मानते और उनकी योग्यता का आदर करते थे। अधिकांश हिन्दू राजे पृथ्वीराज को सम्राट् मान कर उन्हें वार्षिक कर देते और उनका आदेश प्राप्त किये बिना कोई काम न करते थे। परन्तु राठौर वंशोद्भव कन्नौज-नरेश जयचन्द, अपनी सत्ता-महत्ता के आगे, पृथ्वीराज को आदर की दृष्टि से न देखता था। उसके हृदय में दिल्लीपति के विरुद्ध सदैव ईर्ष्या और द्वेष की अग्नि धधकती रहती थी। जयचन्द अनेक बार कह चुका था, कि जब तक पृथ्वीराज उसे अपना सम्राट् स्वीकार न करेगा तब तक परस्पर सद्भाव की स्थापना कभी नहीं हो सकती। जयचन्द की राज्य-सीमा, बनारस और बुन्देलखण्ड तक फैली हुई थी। उधर पृथ्वीराज जयचन्द से किस बात में कम थे, जो

उसे अपना सम्राट् स्वीकार करते। निदान, दोनों नरेश अपने-अपने आग्रह और महत्त्व पर आरूढ़ रहे।

इसी बीच में जयचन्द ने अपनी प्रभुता का प्रदर्शन करने के लिए राजसूय यज्ञ किया, बड़े-बड़े राजे-महाराजे उसमें सम्मिलित हुए और प्रायः सब ने जयचन्द की सत्ता स्वीकार कर उसके शासन की सराहना की। परन्तु पृथ्वीराज इसके यज्ञ में नहीं गये। न जाने का कारण अवकाशाभाव या और कुछ न था। उन्होंने जान-बूझ कर यज्ञ में भाग नहीं लिया, क्योंकि वे जयचन्दको अपना सम्राट् मानने के लिए तय्यार न थे। पृथ्वीराज के इस व्यवहार ने जयचन्द की क्रोधाग्नि और भी अधिक प्रज्वलित कर दी और वह सदैव उन्हें नीचा दिखाने की घात में रहने लगा।

थोड़े दिनों पश्चात् कन्नौज में जयचन्द की पुत्री संयोगिता के स्वयंवर की तय्यारियाँ होने लगीं। देश-देश के राजे उसमें सम्मिलित हुए। पृथ्वीराज निमन्त्रित होने पर भी कन्नौज न गये। उन्होंने स्वयंवर में भाग लेने का विचार भी न किया। इससे जयचन्द के क्रोध का ठिकाना न रहा, उसने पृथ्वीराज के इस व्यवहार को अनुचित तथा अपमानजनक समझा। परन्तु करता क्या, दिल्लीपति पर हाथ डालना कोई साधारण बात तो थी नहीं! जयचन्द इस समय भी लोहूका-सा घूँट पी कर रह गया। इस अवसर पर जयचन्द ने एक चाल चली। पृथ्वीराज को अपमानित करने के विचार से, उसने उसकी एक स्वर्ण-प्रतिमा बनवा कर, ड्योढ़ियों पर द्वारपालों के खड़े होने की जगह रखवा दी। इस दुर्व्यवहार से पृथ्वीराज को बड़ा दुःख हुआ और क्रोध भी आया, परन्तु वह बिल्कुल चुपचाप रहे।

यथाविधि सब समारोह हो चुकने पर, स्वयंवर का समय आया। उस समय सभा-भवन की सुन्दरता दर्शनीय थी, युवक-नरेशों की सजावट और उत्सुकता का ठिकाना न था, वे बड़ी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रहे थे, कि देखें, संयोगिता की जय-माल किस सौभाग्यशाली का कण्ठ सुशोभित करती है। कौन महाभाग, इस रमणी रत्न का स्वामी बन, अपने जीवन-जन्म को सफल बनाता है। संयोगिता वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर हाथ में माला लिए मण्डप में आई। उसकी आँखें पृथ्वीराज को खोजने लगीं, दिल्लीश्वर के दर्शनों के लिए अकुलाने लगीं। परन्तु यहाँ वह वीर-शिरोमणि कहाँ! संयोगिता पृथ्वीराज के गुण-गौरव और स्वाभिमान पर मुग्ध होने के कारण, उन्हें हृदय से चाहती थी। उसने उनकी बड़ी प्रशंसा सुन रक्खी थी और वह अच्छी तरह जानती थी, कि पृथ्वीराज ही एक ऐसा स्वतन्त्र और स्वाभिमानी नरेश है, जिसने अब तक किसी की अधीनता स्वीकार नहीं की। अस्तु, संयोगिता, एक सिरे से दूसरे तक घूम आई, परन्तु पृथ्वीराज कहीं दिखाई न दिये अन्त में वह ड्यौढ़ियों की ओर बड़ी उत्सुकता से बढ़ी और उसने पृथ्वीराज की स्वर्ण-प्रतिमा के कण्ठ में जयमाल डाल कर स्वयंवर की विधि पूर्ण की।

सोने की मूर्ति का इतना अधिक आदर देख कर, स्वयंवर में आये हुए राजाओं की क्रोधाग्नि एक दम भड़क उठी। उन्होंने तलवार चमकाते हुए कहा—"इस अपमान का बदला केवल इन्हीं के द्वारा चुकाया जा सकता है। देखना है, हमारे प्राण रहते हुए, संयोगिता किस प्रकार उस धातु के पुतले को अपना वर बनाती है। कन्नौज में बुला कर हमारा यह अपमान किया गया है। अगर पहले ही से पृथ्वीराज की

प्रतिमा के गले में जयमाल डालना निश्चित था, तो हमें क्यों बुलाया गया? इतनी बड़ी सभा का आयोजन, किस लिए किया गया?

जयचन्द ने इस अवसर पर बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया, उसने संयोगिता को महलों में भेजकर अपने अतिथि-नरेशों से प्रार्थना की, कि आप लोग उस लड़की की बातों का बिल्कुल ख़याल न करें। वह वस्तुस्थिति को नहीं समझती, न जाने क्यों उससे यह भूल बन पड़ी। आप लोग व्याकुलता त्याग दीजिए, कल फिर स्वयंवर होगा और वही ठीक समझा जायगा। दूसरे दिन फिर स्वयंवर-समारोह किया गया, आज फिर बड़े ठाट-बाट का प्रदर्शन हुआ, परन्तु संयोगिता उसमें नहीं आई। उसने साफ़ कह दिया—"क्षत्रिय-कन्या एक बार ही वर-वरण करती है, दूसरी बार पति चुनना उसकी धर्म-मर्यादा और जातीय प्रथा के विरुद्ध है, अतएव इस सम्बन्ध में मैं अब आगे कोई कार्यवाही करने को तय्यार नहीं हूँ। संयोगिता का रूखा उत्तर पाकर सब राजे-महाराजे निराश हो, अपने-अपने देशों को चले गए। जयचन्द को अपनी पुत्री के इस अनौचित्यपूर्ण कार्य से बड़ा दुःख हुआ और उसने उसे इस अक्षम्य अपराध के कारण क़ैद कर लिया।

जब पृथ्वीराज ने स्वयंवर-समारोह के सारे समाचार सुने और उन्हें यह मालूम हुआ कि संयोगिता मुझे अपना वर बनाने के कारण कारागार में बन्द है, तो उन से न रहा गया। वह इस देवी के उद्धार के लिए तुरन्त कुछ अनुभवी सर्दारों सहित, देहली से कन्नौज के लिए रवाना हो गए। इस समय सब के वेश बदले हुए थे, उन्हें कोई भी पहँचान न

सकता था । सर्दार भी गुप्तरूप से ही चल रहे थे। कन्नौज पहुँचकर पृथ्वीराज ने एक दासी की सहायता से, संयोगिता कारागार से मुक्त कराई और वह उसे अत्यन्त द्रुतगामी घोड़े पर सवार करा कर देहली की ओर ले उड़े। ज्यों ही जयचन्द को इस घटना का पता लगा त्योंही उसने अपनी सेना का मुँह देहली की तरफ़ कर दिया। परन्तु मार्ग में डटे हुए वीर चौहानों ने ऐसा आक्रमण किया कि राठौरों के हौसले पस्त हो गए। जयचन्द की सेना ने बहुत उद्योग किया, परन्तु पृथ्वीराज और संयोगिता को वह किसी उपाय से न पकड़ सकी। अन्त को घोर निराशा के साथ सब लोग कन्नौज वापस लौटे और पृथ्वीराज को इस भयंकर अपराध का कठोर दण्ड देने के लिए जयचन्द भाँति-भाँति के प्रपंच रचने लगा। जयचन्द के हृदय में पृथ्वीराज के विरुद्ध पहले ही से बड़ा दुर्भाव भरा हुआ था, संयोगिता-हरण की घटना ने तो उसे और भी उग्र बना दिया।

थोड़े दिनों बाद बात ठण्डी पड़ जाने पर, पृथ्वीराज ने महोवा-नरेश परमाल के पास सन्देश भेजा, कि उसे दिल्ली-सिंहासन की सत्ता स्वीकार कर, प्रति वर्ष निश्चित रूप से कर चुकाना चाहिए। अगर महोवाधिपति किसी कारण ऐसा नहीं कर सकता, तो उसे युद्ध के लिए मैदान में आना पड़ेगा। पृथ्वीराज का सन्देश पाकर, परमाल के होश उड़ गए और उसने तुरन्त कर चुकाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। परन्तु यह बात उसके आल्हा-ऊदल नामक दो वीर सर्दारों को पसन्द न आई। उन्होंने कहा—"पृथ्वीराज के आतङ्क में आकर इस प्रकार कर देने के लिए तय्यार होजाना कायरता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" आल्हा-ऊदल ने अपनी

वीरता के आवेश में आकर, परमाल के भीरु भाव का इतना उपहास किया, कि वह अप्रसन्न होगया और उसने इन दोनों को अपनी राज्य-सीमा से निकल जाने की आज्ञा दे दी। आल्हा-ऊदल पर परमाल की इस भर्त्सनापूर्ण कार्यवाही का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। वे उसकी अनुचित आज्ञा को मान कर, तुरन्त कन्नौज के राजा जयचन्द के दरबार में चले गए।

कर-सम्बन्धी प्रस्ताव अभी अन्तिम निश्चय पर न पहुँचा था, कि इतने ही में, पृथ्वीराज ने लिरसा पर चढ़ाई कर दी और उसे जीत कर, वह महोबा-विजय के लिए बढ़ने लगा। परमाल बड़ा भीरु नरेश था, वह लड़ाई के नाम से ही घबराता था, परन्तु यहाँ तो उस पर साक्षात् आक्रमण होने का अवसर आगया। ऐसी विकट परिस्थिति में बेचारा बड़ा घबराया, और बहुत सोच-विचार के बाद उसकी निगाह अपने पुराने सर्दार आल्हा-ऊदल पर ही पड़ी। दोनों वीरों को बुलाने के लिए दूत दौड़ाये गये तथा राजा जयचन्द से भी इस युद्ध में सहायता प्रदान करने की प्रार्थना की गई। पहले तो, आल्हा-ऊदल ने परमाल का पुराना व्यवहार स्मरण कर, युद्ध में भाग लेने से इन्कार कर दिया, परन्तु जब उन्हें महोबा की स्वतन्त्रता छिन जाने का ध्यान आया, तो वे जयचन्द की सेना और सहायता लेकर, तुरन्त लड़ने के लिए तैयार हो गये। एक ओर आल्हा-ऊदल की अध्यक्षता में महोबा के मोरचे पड़े हुए थे, दूसरी तरफ़ दिल्लीपति पृथ्वीराज अपना आतङ्क स्थापित किये हुए थे। दोनों सेनाओं के मध्य घमासान युद्ध हुआ, रक्त की नदियाँ बह निकलीं, नर-मुण्डों के बिछौने बिछ गये। अन्त को भयंकर संघर्ष के बाद, महोबा की जीत हुई और पृथ्वीराज को परास्त होकर लौट जाना पड़ा।

पीछे पृथ्वीराज की पुत्री बेला का विवाह, परमाल के पुत्र ब्रह्मा के साथ निश्चित हुआ। बड़ी धूमधाम से बारात की तैयारियाँ होने लगीं। राजे-महाराजों ने अपने समारोह में किसी तरह की कमी न की। बारात क्या थी, ऐसा मालूम देता था मानो महोबा-नरेश दिल्लीपति पृथ्वीराज पर चढ़ाई करने जा रहे हैं। हाथी, घोड़े, सेना-सर्दार सबके ठाट-बाट देखने ही योग्य थे। बेला की बारात सात दिन में दिल्ली पहुँची, मार्ग में वीरों की हुँकार से आकाश गूँजता गया। बारात के चलने से फेरे पड़ने तक, इस विवाह में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ आईं। अनेक बार तलवारें तनीं, लड़ाइयाँ हुईं, जिनमें आल्हा-ऊदल ने बड़ी वीरता से भाग लिया। इन दोनों भाइयों की बहादुरी देखकर देहली वाले भी दंग रह गये। बड़ी कठिनाइयों और विघ्न-बाधाओं के साथ विवाह हो गया, परन्तु बधू की विदा एक साल के लिए रोकदी गई। बारात सकुशल वापस आगई।

साल भर बाद बेला के द्विरागमन का प्रश्न उपस्थित हुआ, परन्तु किसी अनिवार्य कारण वश पृथ्वीराज यह कार्य सम्पन्न न कर सके। इससे महोबा वालों को बड़ी निराशा हुई और वे गौना न होने के सम्बन्ध में भाँति-भाँति की कल्पनाएँ तथा आशंकाएँ करने लगे। उधर परमाल के पुत्र ब्रह्मा को, जिसके साथ बेला ब्याही गई थी, लोगों ने भड़काना शुरू किया, कि उसे शीघ्र ही अपने द्विरागमन करने की विधि सोचनी चाहिए। पृथ्वीराज को क्या अधिकार है, कि वह किसी की बधू को इस प्रकार रोक रक्खे। ब्रह्मा धूर्तों के बह-काने में आगया और वह परिणाम पर विचार किए बिना ही एक बड़ी सेना सहित दिल्ली पहुँच गया। दिल्ली में पृथ्वीराज

के पुत्र ताहर ने, आक्रमण की इच्छा से आए हुए अपने बह-नोई का स्वागत तलवार की धार से किया। दोनों सेनाओं में खूब लड़ाई हुई, जिसमें ब्रह्मा को बुरी तरह घायल होना पड़ा। राजकुमार ब्रह्मा के जख्मी होने का समाचार सुन आल्हा उसकी सहायता के लिए दिल्ली पहुँचा और उसने अपने षड्यन्त्र द्वारा बेला को पृथ्वीराज के महलों से निकलवाकर, ब्रह्मा के पास बुलवा लिया।

राजकुमार ब्रह्मा रोग-शय्या पर पड़ा था, युद्ध में चोट लग जाने के कारण उसकी बड़ी बुरी दशा थी। अनेक पीयूष-पाणि वैद्यों की चिकित्सा होने पर भी, उसे किसी प्रकार का लाभ न होता था। बड़ी निराशा और उदासीनतापूर्ण परि-स्थिति उपस्थित हो गई थी। ऐसे समय में बेला ने आकर अपने पतिदेव के दर्शन किये, वह प्रेम-पूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखने लगी। परन्तु ब्रह्मा विश्वासघाती ताहर की बहिन से किसी प्रकार वार्त्तालाप करने को तैयार न हुआ। उसने अपनी स्त्री की ओर से मुँह फेर लिया और बड़ी भारी उदासीनता का परिचय दिया। बेला, अपने पति का भाव, जान गई, उसने समझ लिया कि भाई ताहर की काली कर-तूत का कुपरिणाम उसे भोगना पड़ रहा है। वह चुपचाप वहाँ से चल दी, और वीर-वेश धारण कर तुरन्त देहली पहुँची। देहली में उसने निर्भयता-पूर्वक ज़ोर-ज़ोर से कहा—"पिता पृथ्वीराज ने मुझे दहेज के रूप में कुछ नहीं दिया, संसार में निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी ऐसा नहीं करता। मुझे पिताजी के इस उदासीनतापूर्ण व्यवहार के कारण, बड़ी लज्जा उठानी पड़ रही है। मैंने, इस समय यह वेश दहेज़ के लिए, लड़-मरने को ही धारण किया है। जब विवाह के उपलक्ष्य में

में दहेज़ की उचित अधिकारिणी हूँ, तो उससे क्यों वंचित रहूँ। अगर मुझे वह प्रसन्नता-पूर्वक नहीं दिया गया, तो अब मैं उसे अपने बाहुबल से प्राप्त करूँगी।"

बेला की ऐसी बेजोड़ बातें सुन, पृथ्वीराज के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह मन-ही-मन कहने लगे कि न जाने, आज इस सीधी-सादी लड़की को क्या हो गया है। वह पागलों की तरह क्यों बक रही है! ताहर ने अपनी बहिन को इस प्रकार उग्र आवेश में देख बहुत शान्त किया, परन्तु वह न मानी और बराबर लड़ाई लड़ने पर तुली रही। बहुत रोक-थाम करने पर भी कुछ परिणाम न निकला और अन्त में, अवसर पाकर, बेला ने अपने भाई का सिर काट लिया। सिर लेकर वह ब्रह्मा के पास पहुँची और उसे उसके आगे रख दिया। इस प्रकार बेला ने ताहर का वध करके अपने अकृत्रिम पति-प्रेम का परिचय दिया। उस वीर बाला ने अपने विचित्र व्यवहार से यह दिखा दिया, कि जिस ताहर ने ब्रह्मा को मृत्यु-शय्या पर सुलाया है, अन्त में वह भी परलोक-प्रयाण किए बिना न रहा। इस समय तक ब्रह्मा की अवस्था और भी अधिक शोचनीय होचुकी थी। उसका अन्त समय समीप आचुका था। वह अपनी पत्नी के वीरतापूर्ण कार्य को देख, एकबार मुस्कराया और इस अन्तिम मुस्कराहट के साथ ही, उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई।

अब बेला ब्रह्मा के शव को गोद में ले, सती होने के लिए चिता पर बैठी। अग्न्याधान की तैयारी होने लगी। ऊदल के हाथ से चिता में चिनगारी पड़ने ही वाली थी, कि इतने में पृथ्वीराज एक बड़ी सेना सहित, वहाँ पहुँच गए और उन्होंने बेला का सती होना रोक दिया; क्योंकि ऊदल द्वारा

चिता में आग दिया जाना, पृथ्वीराज को अभीष्ट न था इस अवसर पर फिर घोर युद्ध हुआ और दोनों ओर के दल बड़ी वीरता के साथ लड़ने लगे। उनके साथ और भी कितने ही सहायक नरेश आ मिले, जिन्होंने इस भयंकर रणाग्नि में अपने शरीरों को भस्मीभूत कर दिया। इस संग्राम में, जितने वीरों का संहार हुआ, उसका अनुमान करना भी कठिन है। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अगर यह घोर संग्राम न हुआ होता, तो देहली तथा महोवा की सुदृढ़ शक्तियाँ नष्ट-भ्रष्ट होने से बच जातीं और भारत का भविष्य इतना अन्धकारपूर्ण न होता।

पारस्परिक फूट और गृह-कलह से हिन्दू नरेशों की शक्ति का बहुत ह्रास हो चुका था। दिल्लीपति पृथ्वीराज भी इस विनाशक विधान से अपने को सुरक्षित न रख सके। राजपूतों के साथ संग्राम करते-करते इनका भी बल बहुत क्षीण हो गया था। भारत की आन्तरिक अवस्था से विदेशी आक्रमण-कारी परिचित होते जाते थे और वे इस अवसर की ताक में थे, कि जिस प्रकार सम्भव हो सारे देश में इसलाम का झण्डा फहराया जाय। इसी आकांक्षा को लेकर विदेशी भारत में आते और यत्र-तत्र लूटमार कर वापस चले जाते थे। शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी भी ऐसे ही महत्त्वाकांक्षियों में से था, वह भी एक बार हिन्दुस्तान पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराने की ललित लालसा लेकर लाहोर की ओर बढ़ा। लाहोर जीत लेने के बाद उसका मार्ग बहुत सरल हो गया और अब उसने दिल्ली पर चढ़ाई करने की ठानी। उसने समझा कि दिल्ली को क़ाबू में कर लेने पर, दूसरे राजाओं के साथ लोहा लेना बहुत आसान हो जायगा। इस बीच में गोरी ने कितने

ही छोटे-मोटे राजाओं से टक्कर ली, परन्तु उन्हें जीत कर वह विशेष प्रसन्न न हुआ।

बड़े सोच-विचार के बाद मुहम्मद गोरी देहली की ओर बढ़ा, उधर पृथ्वीराज भी बहुत बड़ी सेना लेकर उसका मुकाबला करने के लिये मैदान में आ गए। साथ ही कितने ही अन्य नरेशों ने भी पृथ्वीराज को पूरी सहायता दी। कन्नौज का राजा जयचन्द अपनी पुरानी शत्रुता के कारण इस समय भी अलग रहा। परन्तु फिर भी भयङ्कर शत्रु का दर्प-दलन करने के लिए पृथ्वीराज के पास जितनी सेना थी, वह बहुत काफ़ी थी। थानेसर के मैदान में दोनों शक्तियों के बीच भयङ्कर युद्धाग्नि प्रज्वलित हो उठी। राजपूत वीर तुर्कों पर बड़ी वीरता से आक्रमण करने लगे। एक-एक योद्धा ने सैकड़ों मुसलमानों के मुण्ड भुट्टे की तरह धड़ से अलग कर दिये। जिधर ये लोग झुक पड़े, उधर ही घोर घमसान हो गया। राजपूतों की शक्ति देखकर तुर्की सेना काई की तरह फटने लगी। कई बार तो क्षत्रिय सर्दार मुसलमान सैनिकों को खदेड़ते हुए बहुत दूर ले गये। उस समय ऐसा प्रतीत होने लगा कि तुर्क सेना के पैर उखड़ गये और अब उसमें युद्ध करने की शक्ति शेष नहीं रही।

अपनी सेना को पीछे हटते देख मुहम्मद गोरी आगे बढ़ा और उसने सामने डटे हुए पृथ्वीराज के भाई गोविन्दराय पर प्रबल प्रहार किया जिससे उसके दाँत टूट गये। गोविन्दराय बड़ा वीर और साहसी था, गोरी के हमले को सहकर चुप बैठ जाना उसके लिये असम्भव था। वीर गोविन्दराय ने बढ़कर गोरी पर तलवार का वार किया, जिससे वह और उसका घोड़ा दोनों बुरी तरह लोहू-लुहान हो गये। गोरी का जीवन

संकट में देख एक तुर्क सिपाही लपक कर आगे आया और उसे घोड़े पर सवार कराकर रण-भूमि से भगा ले गया। मुहम्मद गोरी के भागते ही उसकी सेना के पाँव उखड़ गये और वह पीठ दिखाकर बुरी तरह भाग निकली। भागते हुए सिपाहियों का राजपूतों ने दूर तक पीछा किया और अन्त में उन्हें दया-दान देकर छोड़ दिया।

मुहम्मद गोरी घायल होकर, कुछ दिनों गुप्त रूप से हिन्दुस्तान में ही अपना इलाज कराता रहा, और अच्छा होकर सीधा ग़ज़नी के लिए रवाना हो गया। ग़ज़नी पहुँच कर उसे अपनी पराजय और असमर्थता पर बड़ा दुःख हुआ। राजपूतों के सामने से पीठ दिखाकर भागने वाले तुर्क सैनिकों को उसने क़ैद कर दिया। गोरी पर इस हार का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। अब वह हर वक्त पृथ्वीराज को पराजित करने का ही स्वप्न देखता रहता। इस चिन्ता में गोरी को संसार की कोई बात अच्छी न लगती थी। परन्तु वह निराश न हुआ, अबकी बार उसने हिन्दुस्तान पर फिर चढ़ाई करने के लिए बहुत बड़ी तय्यारी की। ग़ज़नी से कूच करते समय उसने बन्दी सिपाहियों को भी मुक्त कर, अपनी सेना में मिला लिया। वह इसलाम के नाम पर तरह-तरह से प्रोत्साहन देकर, उन्हें युद्धस्थल में मर-मिटने को तय्यार करने लगा। अबकी बार गोरी ने प्रतिज्ञा की, कि जब तक पृथ्वीराज को परास्त न कर लूँगा, सुख की नींद न सोऊँगा। जिन राजपूतों ने मुझे और मेरी सेना को इस तरह खदेड़ दिया, उन्हें नष्ट-भ्रष्ट करके ही अब तो सन्तोष का साँस लिया जायगा।

पृथ्वीराज विजयोत्सव में निमग्न थे। वे समझ रहे थे कि तुर्कों को भारत से भगा देने पर, अब इस सम्बन्ध में कुछ

कर्त्तव्य शेष नहीं रह गया, इसीलिए अब उन्हें युद्ध की बिल्कुल आशङ्का न थी। परन्तु इतने ही में पृथ्वीराज को सूचना मिली, कि पीड़ित-प्रताड़ित शहाबुद्दीन गोरी फिर अपने दल-बल सहित लाहोर आपहुँचा है, और शीघ्र ही दिल्ली पर चढ़ाई करने वाला है। यह समाचार सुनते ही पृथ्वीराज चिन्ता-सागर में डूब गये। वह इस नई आपत्ति से छुटकारा पाने के लिए अनेक उपाय सोचने लगे। थोड़े ही दिनों में उन्होंने सब हिन्दू-नरेशों से यथेष्ट सहायता प्राप्त कर ली। डेढ़ सौ राजपूत नरेश और कई लाख योद्धा पृथ्वीराज के झण्डे तले दिखाई देने लगे। जिधर दृष्टि जाती उधर ही जन-समुद्र उमड़ा दिखाई देता था। कन्नौज का राजा जयचन्द इस अवसर पर भी पृथ्वीराज की सहायता के लिए नहीं आया। वह हिन्दूधर्म पर ऐसा संकट आने पर भी दिल्ली की ओर से उदासीन ही बना हुआ था। पृथ्वीराज के साथ उसका व्यक्तिगत द्वेष यहाँ तक बढ़ गया, कि वह हिन्दू जाति पर भयङ्कर संकट उपस्थित होने पर भी, उसकी सहायता के लिए तय्यार न हुआ।

थानेसर के मैदान में फिर दोनों सेनाओं के मध्य भयङ्कर युद्ध हुआ। सहस्रों सिपाही अपनी-अपनी विजय-लालसा में रणचण्डी की भेंट हो गए। समराङ्गण में रक्त की धारा बहने लगी, लोथों के ढेर लग गए, रुण्ड-मुण्डों का बीभत्स दृश्य दिखाई देने लगा। अबकी बार मुहम्मद गोरी ने बड़ी चालाकी से काम लिया। उसने अपनी सेना को अच्छी तरह सिखा-पढ़ा दिया था, कि प्रथम वह चारों ओर से राजपूत-दल पर आक्रमण करे और फिर पीछे हट जाय। जब राजपूत लोग तुर्क सेना को भागी हुई समझ कर निश्चिन्त हो जायँ तो अचानक फिर उनपर आक्रमण कर दिया जाय। तुर्क सेना

ने ऐसा ही किया। एक बार पीछे हटकर, जब उसने देखा कि राजपूतों का संघटन शिथिल हो गया, तो चट वह उन पर टूट पड़ी और बुरी तरह से मारधाड़ मचाने लगी। क्षत्रिय वीरों की दशा इस समय बड़ी शोचनीय थी। उनमें चारों ओर निराशा-ही-निराशा दिखाई देती थी, ऐसी हालत में भी राजपूत सर्दार जी तोड़कर लड़े, परन्तु सुसज्जित शत्रु-सेना के सामने उनका इस प्रकार अधिक देर तक डटे रहना बहुत कठिन था। अन्त को हताश होकर राजपूत लोग इधर-उधर भागने लगे, सारी सेना में भगदड़ मच गई।

इस असंगठित अवस्था में पृथ्वीराज मुहम्मद गोरी के हाथ पड़ गया, जिसे उसने क़ैद कर लिया। फिर क्या था? दिल्ली और अजमेर पर तुर्कों का झण्डा फह-राने लगा, सीमान्त प्रदेश पर तो पहले ही उनका अधि-कार हो चुका था। इस विजय से मुहम्मद गोरी के हर्ष का ठिकाना न रहा, चारों ओर लूटमार कर उसने प्रचुर रत्नराशि से अपना भण्डार भर लिया। कहते हैं, देहली से गोरी को इतना अधिक धन मिला, जिसकी वह स्वप्न में भी कल्पना न कर सकता था। मुहम्मद गोरी ने अजमेर में कितने ही मठ-मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कराकर उनके स्थान में मस्जिदें बनवाईं, धार्मिक पक्षपात से प्रेरित होकर उसने और भी न जाने, क्या-क्या किया।

दिल्लीपति पृथ्वीराज क़ैद में पड़े-पड़े दिन काट रहे थे। विजयोन्माद कुछ शान्त होने पर मुहम्मद गोरी का ध्यान उनकी ओर गया, और उसने बड़ी निर्दयता-पूर्वक दिल्लीपति का वध करा दिया। महारानी संयोगिता अपने पति के शव के साथ सती होगई, और अब विदेशी आक्रमणकारियों के लिए

भारत में स्वच्छन्दता पूर्वक चरने विचरने के लिए मार्ग निष्कण्टक होगया।

इस विषय में कुछ लोगों का यह भी कथन है, कि जब पृथ्वीराज क़ैद में पड़े अनेक यन्त्रणाएँ भोग रहे थे, यहाँ तक कि ग़ोरी द्वारा बड़ी निर्दयता पूर्वक उनकी आँखें भी फुड़वादी गई थीं, उस समय उनके परम मित्र कविवर चन्द्रवरदाई मुहम्मद ग़ोरी के पास पहुँचे। उन्होंने ग़ोरी से पृथ्वीराज के लक्ष्यवेध की प्रशंसा करते हुए कहा—"हुज़ूर, अब पृथ्वीराज मरनेवाला तो है ही, आप कम से कम एक बार उसका बाण-विद्या-सम्बन्धी कौशल तो देख लीजिए। वह बिना देखे केवल शब्द सुनकर ही कैसा लक्ष्य-वेध करता है, इसे देखकर आप दंग रह जायँगे।" चन्द्रवरदायी के कहने से मुहम्मद ग़ोरी पृथ्वीराज के शब्द-वेध का तमाशा देखने के लिए उद्यत हो गया। कई लोहे के घंटे लटकाए गए और पृथ्वीराज को एक अच्छा-सा धनुष देकर शब्द-वेधी बाण चलाने को कहा गया।

जब सब तैयारियाँ होचुकीं और ग़ोरी आकर अपने सिंहासन पर बैठ गया, तब चन्द्रवरदायी ने नीचे लिखा दोहा पढ़ कर, पृथ्वीराज को सुलतान पर बाण छोड़ने के लिए संकेत किया—

> चार बाँस चौबीस गज, अंगुल अष्ट प्रमान।
> ता ऊपर सुलतान है, मत चुकै चौहान॥

कहते हैं, चन्द्र कवि के इशारे पर पृथ्वीराज ने ऐसा बाण मारा कि वह सुलतान मुहम्मदग़ोरी के जाकर लगा, जिस से उसी समय उसका काम तमाम हो गया। इसके बाद

पृथ्वीराज और चन्द्रवरदायी भी एक दूसरे के तलवार मार कर वहीं मर गए।

ऐतिहासिकों की धारणा है, कि यदि कन्नौज का राजा जयचन्द जाति-हित को दृष्टि-पथ में रख कर मातृ-भूमि के उद्धारार्थ पृथ्वीराज का साथ देता, तो भारत विदेशियों के अधिकार-पाश में पड़ने से बच जाता। परन्तु भगवान् को यह स्वीकार न था। अन्ततः हिन्दू नरेशों की फूट और अनेकता ने हिन्दुस्तान को वह दुर्दिन दिखाया, जिसकी कभी आशा भी न की जा सकती थी। अस्तु, मुहम्मद ग़ोरी ने अजमेर का राज्य पृथ्वीराज के एक पुत्र को दे दिया। साथ ही जीते हुए राज्यों की देख-भाल के लिए, उसने कुतुबुद्दीन ऐबक नामक एक सर्दार भी वहाँ छोड़ दिया। कुतुबुद्दीन बड़ा होशियार आदमी था, उसने ग़ोरी द्वारा जीते हुए राज्यों को सुरक्षित ही नहीं रक्खा, बल्कि कालपी, कालिंजर, ग्वालियर, कोल आदि के राज्य भी युद्ध करके अपने अधिकार में कर लिए।

दिल्ली-विजय के दो वर्ष बाद मुहम्मद ग़ोरी की दृष्टि कन्नौज पर पड़ी। जो जयचन्द पृथ्वीराज से द्वेष रखने के कारण अपने को तुर्कों की गोद में बैठा सुरक्षित समझता था, उस पर आपत्ति का पहाड़ टूटने की तैयारी शुरू हुई। मुहम्मद ग़ोरी स्वयम् एक बहुत बड़ी सेना लेकर कन्नौज के लिए रवाना हुआ। उधर से ख़बर पाकर राठौर भी लड़ने के लिए तैयार हो गया। इटावा के पास दोनों दलों में भयङ्कर मुठभेड़ हुई, जिसमें जयचन्द मारा गया। फिर क्या था, कन्नौज पर शत्रुओं का झण्डा फहराने लगा और उनकी विजय-दुन्दुभी बज उठी।

महारानी पद्मिनी

पद्मिनी सिंहल द्वीप के चौहान राजा हम्मीरसिंह की पुत्री और चित्तौड़ के प्रतापशाली महाराणा भीमसिंह की पत्नी थीं। यह देवी अपनी समकालीन स्त्रियों में सर्वोत्कृष्ट सुन्दरी थी, ऐसा इतिहास-लेखकों का मत है। यही कारण है, कि वह सौन्दर्य की तुलना के लिए एक उदाहरण बनगई। जब किसी स्त्री के रूप-लावण्य की प्रशंसा की जाती है, तो उसे पद्मिनी की उपमा देते हैं। कहीं-कहीं लोग व्यंग्य-भाव से भी कहा करते हैं—"हाँ, देखा है उस पद्मिनी को!" पद्मिनी सचमुच ही पद्मिनी थी। उसका वाह्य रूप-रंग जितना आकर्षक और मनोमोहक था, अन्तःकरण भी वैसा ही पवित्र था। पद्मिनी का हृदय विशाल एवं उदार था। बुद्धि तो उसकी इतनी तीव्र थी, कि बड़े-बड़े विद्वान् उसके आगे कान टेकते थे। पद्मिनी में जहाँ नारी-सुलभ शील, विनय, पातिव्रत आदि सद्गुणों का समावेश था, वहाँ वह घोड़े पर चढ़ना, तलवार चलाना आदि वीरोचित कलाओं में भी पारंगत थी। पद्मिनी को यदि सर्वांग सुन्दरी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

पद्मिनी अब से लगभग छै सौ वर्ष पूर्व हुई है। उन दिनों चित्तौड़ का राज्य उतना विस्तृत, शक्तिशाली एवं समृद्ध न था जितना महाराणा साँगा आदि के समय में होगया। उस समय चित्तौड़ एक साधारण जागीर के समान था। इन्हीं दिनों दिल्ली में समृद्धिशाली किन्तु दुराचारी और दुरभिमानी

अलाउद्दीन राज्य करता था। अलाउद्दीन के सम्बन्ध में कहा जाता है, कि वह जहाँ किसी सुन्दरी को देखता या सुनता, वहीं से उसे प्राप्त करने की चेष्टा करता था। पद्मिनी के सौन्दर्य की सूचना जब उसके कानों तक पहुँची, तो वह उसे पाने के लिए लालायित हो उठा। उसने तुरन्त चित्तौड़ के राणा को लिख भेजा, कि पद्मिनी को तुरन्त दिल्ली भेज दो, वह तुम्हारे जैसे जागीरदार के लायक नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान के बादशाह की बेगम बनने योग्य है। अगर तुम राज़ी से पद्मिनी को दे दोगे तो, उसके बदले में तुम्हें बहुत-सी जागीर दी जायगी। और जो तुमने शाही फ़रमान के खिलाफ़ कार्रवाई की, तो चित्तौड़ पर चढ़ाई करके पद्मिनी बल पूर्वक छीन ली जायगी।

अलाउद्दीन का आतङ्कपूर्ण अनुचित प्रस्ताव सुनकर महाराणा भीमसिंह के क्रोध का ठिकाना न रहा। वे उसी समय क्रोध से दाँत पीसते हुए बोले—"अच्छा, अलाउद्दीन की यह हिम्मत, कि वह पद्मिनी को अपनी बेगम बनाना चाहे! गीदड़ शेरनी की तरफ़ आँखें उठावे—कौआ राजहंसिनी पर प्रेम दिखावे!! नीच अलाउद्दीन, याद रख, अब मौत तेरे सिर पर नाच रही है। दुराचारी, पद्मिनी नहीं, अब मेरी तलवार तेरे गले लगेगी।" इसके पश्चात् राणा ने अलाउद्दीन के दूत से कहला भेजा—"अच्छा, उस नारकी कीड़े से कह देना, कि अगर हिम्मत हो, तो स्वयं आकर पद्मिनी को लेजाय। मालूम होता है, उसने अभी सीसोदियाओं की तलवार नहीं देखी, उसे अभी सच्चे राजपूतों से काम नहीं पड़ा। क्या मेवाड़ के वीरों को भी उसने औरों की तरह समझ रक्खा है।"

दूत ने राणा की सब बातें, नमक मिर्च मिला कर सुल्तान अलाउद्दीन को जा सुनाईं, जिन्हें सुन कर वह भी आग-बबूला हो गया। उसने राणा के कथन को कोरी गीदड़-भभकी समझा, अतः वह अपने विचार पर दृढ़ बना रहा। रहता भी क्यों न, वह तो पद्मिनी के सौन्दर्य पर इतना मुग्ध था, कि उसे और कुछ सुहाता ही न था। दुर्वासनाओं ने सुल्तान को ऐसा अन्धा बना दिया था, कि उसे भलाई-बुराई, ऊँच-नीच, कुछ न सूझते थे। उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते और चलते-फिरते हरवक्त उसे पद्मिनी का ही ध्यान रहता। अलाउद्दीन ने निश्चित कर लिया था, कि कुछ भी क्यों न हो, पद्मिनी अवश्य प्राप्त करनी चाहिए। बिना पद्मिनी के जीवन व्यर्थ है। पहले चाहे मैं अपना विचार बदल भी देता, पर अब, जबकि राजपूतों ने मुझे चुनौती दी है, मैं अपने निश्चय को नहीं टाल सकता। अब तो जैसे भी होगा, पद्मिनी को पाकर ही दम लूँगा।

अलाउद्दीन ने जब और किसी युक्ति से कार्य सिद्ध होता न देखा, तो अन्तिम उपाय—युद्ध का आश्रय लिया। उसने अपनी एक बड़ी सेना सजाकर चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी। उधर राणा भीमसिंह भी अचेत न थे, उन्होंने भी शत्रु का सामना करने के लिए पूरी तैयारी कर ली थी। यवन सेना के चित्तौड़ में पहुँचते ही वीर सीसौदिया भी रण-क्षेत्र में उतर आए। दोनों सेनाओं का सामना होते ही शस्त्रास्त्र चलने लगे। खाँड़े से खाँड़ा बज उठा और रण-भूमि लोथों से पटने लगी। इस युद्ध में भीमसिंह के सिपाहियों ने ऐसे पराक्रम से तलवार चलाई कि यवन-सेना के छक्के छूट गए! राजपूतों की मार के मारे अलाउद्दीन की आधी से

अधिक सेना कट गई, और जो बाक़ी रह गई उस पर वीर सीसौदियाओं का ऐसा आतंक स्थापित हो गया, कि वह विचलित हो, मैदान से भागने का अवसर देखने लगी। अलाउद्दीन ने अपनी फ़ौज का रुख़ पलटा और रंग बदला हुआ देखा, तो उसने तुरन्त युद्ध बन्द कर महाराणा के पास संधि-सन्देश भेज दिया। उसने राणा से कहला भेजा, कि यदि राणा मुझे केवल पद्मिनी के दर्शन करा दे—वह भी प्रत्यक्ष नहीं, शीशे में—तो मैं अपनी सेना सहित दिल्ली लौट जाऊँगा।

भीमसिंह ने सोचा कि यदि इतने से ही यह भीषण रक्तपात बन्द होता है, तो इसमें हर्ज ही क्या है। अलाउद्दीन तो केवल शीशे में पड़े हुए पद्मिनी के प्रतिबिम्ब का दूर से दर्शन करना चाहता है। इसमें अपना क्या बिगड़ता है। राणा ने इस सम्बन्ध में पद्मिनी से सम्मति ली तो उसने भी सहर्ष स्वीकृति दे दी। पद्मिनी ने सोचा कि मेरे कारण जो यह भयानक नर-संहार हो रहा है, वह यदि इस उपाय से रुक जाय, तो इससे अच्छी क्या बात हो सकती है। मुझे अपने कारण असंख्य सैनिकों की हत्या कराने का कोई अधिकार नहीं है। मानवता का निरादर करके अकारण ही सहस्रों मनुष्यों का ख़ून बहाना कहाँ की बुद्धिमत्ता है। शीशे के आगे खड़े होजाने से यदि इस भयानक मार-काट का अन्त और दो राज-सत्ताओं में सदा के लिए मेल होता है, तो ऐसा करने में मुझे कोई आपत्ति न होनी चाहिए।

महारानी की सहमति से राणाजी ने अलाउद्दीन का सन्धि-सन्देश स्वीकार कर लिया और पद्मिनी के दर्शनों के

लिए समय निश्चित कर दिया नियत समय पर अलाउद्दीन अपने कुछ शरीर-रक्षकों सहित चित्तौड़-दुर्ग में पहुँचा। अलाउद्दीन को विश्वास था, कि राजपूत लोग अपनी प्रतिज्ञा के इतने पक्के होते हैं, कि चाहे प्राण चले जायँ पर प्रण नहीं जाने देते। वे झूठे और विश्वासघाती भी नहीं होते, इसलिए उसने चित्तौड़ के क़िले में जाते हुए तनक भी संकोच या आगा-पीछा नहीं किया। वह अपने थोड़े-से सिपाहियों के साथ निर्भय भाव से दुर्ग में घुस गया। वहाँ राणा ने उसका उचित स्वागत-सत्कार किया। इसके अनन्तर राणा ने अपनी प्रतिज्ञानुसार उसे रानी के दर्शन करा दिए।

पद्मिनी को देखकर अलाउद्दीन निहाल होगया, उसे कुछ समय के लिए तो अपने शरीर की भी सुधि न रही। वह मुग्ध हो, स्वर्गीय सुख का अनुभव करने लगा। थोड़ी देर में जब वह सावधान हुआ, तो एक गहरी साँस लेकर कहने लगा—"वाक़ई जैसा सुना था, उससे कई गुनी ख़ूबसूरत है। मुझे तो यह इन्सान नहीं, बहिश्त की हूर मालूम देती है।" अलाउद्दीन ने सोचा था, पद्मिनी को देखकर ही सन्तोष कर लिया जायगा, पर उसे यह पता न था कि इन्द्रियाँ भोगों से तृप्त नहीं होतीं। इनकी जितनी इच्छा-पूर्ति की जाय, उतनी ही वे अधिक मचलती और क़ाबू से बाहर होती जाती हैं। पद्मिनी को देखकर अलाउद्दीन का मन और भी व्याकुल हो उठा। उसने मन-ही-मन निश्चय किया, कि राणा के साथ की गई संधि तोड़ कर, जैसे भी हो, पद्मिनी को अवश्य प्राप्त करना चाहिए।

इसके पश्चात् राणा ने अलाउद्दीन को अपने नगर की सैर कराई। सुल्तान सम्पूर्ण नगर में घूमा, पर उसे कहीं

कुछ भी अच्छा न लगा। लगता भी कैसे, उसका मन तो पद्मिनी के पास था। अलाउद्दीन जब अपने शिविर को जाने लगा, तो शिष्टाचार के अनुसार राणा अपने मुख्य-मुख्य आदमियों के साथ उसे क़िले के बाहर तक पहुँचाने आए। सुल्तान के हृदय में तो पाप बसा हुआ था, उसने इस अवसर से लाभ उठाना चाहा, और राणा से बात करते-करते वह अपनी छावनी की ओर बढ़ने लगा। भीमसिंह, जो अपने समान ही औरों को भी सीधा-सच्चा और निष्कपट समझते थे, सुल्तान के विश्वास पर, निशस्त्र ही उसके साथ-साथ चले गए। छावनी में पहुचते ही सुल्तान की आखें एक दम बदल गईं और उसने अपने सिपाहियों को आज्ञा देदी कि राणा को फ़ौरन गिरफ़्तार करलो।अलाउद्दीन का इशारा पाते ही सिपाहियों ने राणा को उनके साथियों सहित पकड़ लिया और हथकड़ियाँ पहनादीं।

उधर क़िले में कुछ देर तक तो राणा के लौटने की प्रतीक्षा की गई, पर जब अधिक देर होते देखी तो मन्त्रियों ने उन्हें बुलाने के लिए आदमी भेजे। सुल्तान ने इन राजपूत सेवकों द्वारा राणा के मन्त्रियों से कहला भेजा, कि राणा को चाहते हो तो पद्मिनी को भेज दो। बिना पद्मिनी के दिए राणा का छुटकारा नहीं हो सकता। क़िले में यह सूचना पहुँची तो सब लोग सन्न रह गए! पद्मिनी की आँखों के आगे तो अँधेरा छा गया और समस्त पृथ्वी उसे घूमती हुई-सी मालूम होने लगी। वह एक साथ माथा पकड़ कर बैठ गई और बैठते ही मूर्च्छित होगई। रानी की ऐसी दशा देखकर लोगों की विकलता और भी बढ़ गई, वे सब पद्मिनी को होश में लाने के लिए अनेक उपचार करने लगे। थोड़ी देर में

रानी सावधान हुई। इसके अनन्तर सब मिल कर विचारने लगे कि अब क्या करना चाहिए। कुछ लोगों ने तो कहा—"अब युद्ध के सिवा और कोई उपाय नहीं है। हम अभी अपनी सेना सजाकर यवनों पर आक्रमण करेंगे और उन्हें मारकाट कर महाराणा को छुड़ा लावेंगे।" इसपर पद्मिनी बोली—वीरो, तुम्हारा साहस सराहनीय है, तुमने अपने अनुरूप ही इच्छा प्रकट की है। पर मेरी राय में तुम लोग इस उपाय द्वारा महाराणा को छुड़ा न सकोगे। जिस समय नीच अलाउद्दीन अपनी सेना को हारते देखेगा, उसी समय वह अपने क़ाबू में आए राणा का अनिष्ट कर डालेगा। तुम जानते हो, जो आदमी इतना विश्वास-घात कर सकता है, उसे भयंकर-से-भयंकर पाप करने में भी संकोच नहीं हो सकता।"

रानी की यह बात सबको ठीक जँची और वे एक स्वर से कहने लगे—"तो फिर आप ही उपाय बताइये, हम आपकी आज्ञा मानने के लिए सब तरह तैयार हैं।" इसपर पद्मिनी ने कहा—"वीरो, नीतिकारों का मत है, कि जैसे के साथ तैसा ही व्यवहार करना चाहिए। इस समय हम भी शत्रु पर कुटिल नीति द्वारा ही विजय प्राप्त कर सकते हैं। बिना षड्यन्त्र रचे राणा को वैरियों के चंगुल से नहीं निकाला जा सकता।" इसके पश्चात् रानी ने अपने काका गोरा और भाई बादल को बुलवाया और उनसे परामर्श कर राणा के छुड़ाने की युक्ति सोच निकाली। पद्मिनी ने अलाउद्दीन से कहला भेजा कि, मैं तुम्हारे पास आने को तैयार हूँ; परन्तु तुम्हें मेरी कुछ शर्तें माननी पड़ेंगी। पहली शर्त तो यह है कि, मेरी कुछ सहेलियाँ और दासियाँ भी मेरे साथ दिल्ली चलना चाहती हैं, उन सब को भी मेरे साथ चलने की आज्ञा देनी होगी।

दूसरी यह कि मेरे साथ की स्त्रियाँ, चाहे वह सहेली हों, चाहे दासी, सब पर्दे में रहेंगी। तुम या तुम्हारा कोई साथी उन्हें देखने की चेष्टा न कर सकेगा। इसके अतिरिक्त मैं तुम्हारे पास आने के पूर्व एक बार राणा से भेंट अवश्य करूँगी। यदि तुम्हें मेरी ये शर्तें स्वीकार हों, तो मैं तुम्हारे साथ दिल्ली चलने को तैयार हूँ।

अलाउद्दीन तो पद्मिनी के रूप-लावण्य पर पागल हो रहा था। उसे तो जैसे भी हो, पद्मिनी मिलनी चाहिए, फिर भला ये साधारण-सी शर्तें स्वीकार करने में उसे क्या आपत्ति हो सकती थी। सुल्तान ने उसी समय ख़बर भेज दी कि, मुझे तुम्हारी सब बातें मंज़ूर हैं, तुम अपनी सखियों तथा दासियों सहित तुरन्त आओ।

अलाउद्दीन की स्वीकृति आजाने पर पद्मिनी ने सात सौ पालकियाँ तैयार कराईं। प्रत्येक पालकी में पर्याप्त शस्त्रास्त्र रखवा कर उनमें एक-एक वीर राजपूत बैठा दिया और छै-छै राजपूत कहारों के वेश में पालकियों के उठाने के लिए नियुक्त किये गये। एक डोली में जो सबसे अधिक मूल्यवान वस्त्रों से आच्छादित थी, वीर बादल बैठा और पद्मिनी के काका गोरा घोड़े पर चढ़ उस डोली के साथ-साथ चले। इस प्रकार सात सौ डोलियों की क़तार क़िले से निकल कर अलाउद्दीन के शिविर की ओर चली। छावनी के फाटक पर पहुँच कर गोरा ने इत्तला कराई कि पद्मिनी आगई हैं, उनके उतरने का प्रबन्ध कराइए। अलाउद्दीन ने एक बहुत बड़े डेरे में, जिसके चारों ओर क़नातों की दीवार खड़ी थी, सब पालकियों को भिजवा दिया। इस भाँति पद्मिनी के कौशल द्वारा लगभग

पाँच हज़ार सशस्त्र राजपूत अलाउद्दीन की छावनी में पहुँच गये।

जब सब डोलियाँ उस विशाल पट-मण्डप में पहुँच गईं, तो गोरा ने सुल्तान से कहला भेजा, कि अब आप अपनी प्रतिज्ञानुसार महाराणा को अन्तिम बार रानी से मिलकर चित्तौड़ जाने की आज्ञा दीजिए। अलाउद्दीन ने तुरन्त राणा भीमसिंह की हथकड़ियाँ खुलवा दीं और उसे पद्मिनी से मिलने के लिए उस डेरे में भेज दिया। राणा वहाँ का विचित्र दृश्य देखकर चकित रह गए और पद्मिनी के बुद्धि-कौशल की बार-बार प्रशंसा करने लगे। थोड़ी देर तक गोरा, बादल और राणा में परामर्श होता रहा। राणा ने उनको बताया कि आज सवेरे ही से सुल्तान की सारी फ़ौज पद्मिनी के पाने की .ख़ुशी में शराब पी-पीकर आनन्द मना रही है, ऐसी दशा में एक साथ आक्रमण करके उसे सहज ही में नष्ट-भ्रष्ट किया जा सकता है। राणा की बात सब को पसन्द आई और सब राजपूत तलवारें ले-लेकर तुरन्त यवनों पर टूट पड़े।

राजपूतों द्वारा अपनी छावनी पर अचानक आक्रमण हुआ देख मुसलमान सैनिक भौचक्के रह गए और उनमें एक साथ खलबली मच गई! वे घबराहट में कुछ भी निश्चय न कर सके कि क्या करना चाहिए। जब तक सुल्तान की सेना सम्हली तब तक राजपूतों ने उसका आधे से अधिक भाग काट डाला। राजपूतों को मार-काट मचाते देख, यवन-सैनिकों का सारा नशा उतर गया और वे भी लड़ने को तैयार हो गए। थोड़ी देर ही में घोर घमासान युद्ध होने लगा। एक-एक राजपूत आठ-आठ, दस-दस शत्रुओं का संहार कर वीरगति प्राप्त करता था। इस युद्ध में गोरा और बादल ने बड़ी वीरता

दिखाई उन्होंने सैकड़ों ही यवनों को तलवार के घाट उतार दिया। बादल की आयु उस समय केवल बारह वर्ष की थी। बादल को वीरतापूर्वक लड़ते देख, दूसरे राजपूतों का भी साहस बढ़ गया और वे जान पर खेलकर युद्ध करने लगे। इस भाँति वीर राजपूतों ने यवनों के हौसले पस्त कर दिए।

उधर अलाउद्दीन पद्मिनी के सम्बन्ध में न जाने क्या-क्या मनोराज्य कर रहा था। उसने यह विचित्र दृश्य देखा, तो उसका सुख-स्वप्न भंग हो गया। वह घबराकर अपने डेरे से निकला और सीधा पद्मिनी के डेरे की ओर चल दिया। अलाउद्दीन की आँखें पद्मिनी को खोजने लगीं, पर पद्मिनी वहाँ कहाँ थी! अब सुल्तान की समझ में सारी स्थित आगई। उसने तुरन्त सिपाहियों का एक बड़ा जत्था क़िले में-से पद्मिनी को पकड़ लाने के लिए भेजा, परन्तु उस जत्थे को मार्ग ही में राजपूतों ने काट डाला। अब अलाउद्दीन सब ओर से निराश होगया और उसकी फ़ौज जान बचाकर भागने लगी। सेना को भागते देख सुल्तान भी भाग निकला और उसने दिल्ली जाकर ही दम लिया। राजपूतों ने यवनों को भगा तो दिया, पर उनकी भी कम क्षति नहीं हुई थी। इस युद्ध में बहुत-से सीसौदिया काम आगए और पद्मिनी के काका गोरा भी समरांगण में सो गए थे।

अलाउद्दीन के हृदय में पद्मिनी को पाने की लालसा अब भी बनी हुई थी। वह राजपूतों की इस चाल से तो बहुत ही जल गया था। इस बार सीसौदियाओं के षड्यन्त्र द्वारा अलाउद्दीन को बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी, जिससे उसपर बड़ी लज्जा सवार हो गई थी। वह रात-दिन यही सोचा करता था, कि इस अपमान का बदला किस प्रकार लिया

जाय। अलाउद्दीन थोड़े ही दिनों बाद फिर बड़ी सेना लेकर चित्तौड़ पर चढ़ आया और उसके चारों ओर घेरा डाल दिया। राजपूत भी शीघ्र ही संगठित होकर यवनों का मुक़ाबिला करने को क़िले में बैठ गए। इतिहास-लेखकों की सम्मति है, कि महाराणा भीमसिंह क़िले से बाहर रह कर लड़ते, तो कदाचित् सहसा परास्त न होते। दुर्ग में घिर जाने के कारण उन्हें बाहर से सहायता मिलनी बन्द होगई। क़िले में जो खाद्य सामग्री थी, वह आख़िर कब तक चलती। उधर शत्रुओं ने समझ लिया था, कि हमें लड़-भिड़ कर व्यर्थ अपने जन-धन की हानि करने से क्या लाभ? हमें तो केवल इस बात की रखवाली रखनी चाहिए कि, क़िले में बाहर से रसद न पहुँचने पावे। अन्दर खाद्य सामग्री समाप्त हो जायगी, तो राजपूत स्वयं ही भूखों मरने लगेंगे। उस समय उन्हें विवश होकर बाहर निकलना ही पड़ेगा। बस यही निश्चय कर यवन-सेना क़िले पर घेरा डाले डटी रही।

कहते हैं, क़िले में बैठकर राजपूत छै महीने तक यवनों से लड़ते रहे, परन्तु जब उनकी रसद समाप्त हो चुकी तो वे बहुत घबराए। अब तो क़िले में बैठे-बैठे भूखों मरजाने, या बाहर निकलकर बैरियों से लोहा लेने के सिवा कोई उपाय ही न था। राणा ने सोचा कि बाहर निकल कर हम इने-गिने आदमी इतनी बड़ी यवन-सेना का क्या मुक़ाबिला करेंगे। परन्तु अब जब मरना ही निश्चित है, तो क़िले में मुँदे-मुँदे क्यों मरें। बाहर निकल वीरता पूर्वक शत्रुओं को संहारते हुए वीरगति क्यों न प्राप्त की जाय। राणा ने निश्चित किया कि अब तो हमारे वंश में से कोई एक भी, यवनों से बदला लेने के लिए किसी प्रकार बच रहे, ऐसा प्रबन्ध करके, हमें केसरिया वस्त्र

धारण कर लेना चाहिए। यह सोच राणा ने अपने अजयसिंह नामक पुत्र को चुपके से मेवाड़ के पहाड़ों पर भेज दिया। परन्तु अब उनके सामने एक और विकट समस्या उपस्थित हुई। वह विचारने लगे कि जिस पद्मिनी के लिए यह सब कुछ हुआ और होगा उसकी तथा क़िले में रहनेवाली अन्य स्त्रियों की रक्षा का क्या उपाय करना चाहिए। यह कठिन प्रश्न क्षत्राणियों के आगे रक्खा गया, तो उन्होंने कहा—"हम सब भी तलवार लेकर आप लोगों के साथ, शत्रुओं से लड़ेंगी और उनको दिखा देंगी कि चित्तौड़ की स्त्रियों में कितना पराक्रम है। आप लोग हमारी तलवारों का भी तो स्वाद शत्रुओं को चखने दीजिए। हम सबको भी आगे-पीछे मरना तो है ही, फिर शत्रुओं का संहार करती हुई वीरता-पूर्वक क्यों न मरें।"

क्षत्राणियों के उक्त प्रस्ताव का कुछ लोगों ने तो समर्थन किया, पर विचारशील वयोवृद्धों को यह बात उचित न जँची। उन्होंने कहा—"राजपुत्रियों का युद्ध में लड़ने का विचार तो प्रशंसनीय है, पर भय इस बात का है, कि यदि एक भी क्षत्राणी यवनों के हाथ पड़ गई तो हमारा किया-कराया सब मिट्टी में मिल जायगा। फिर हम स्वर्ग में अपने पुरुषाओं को क्या मुँह दिखावेंगे। यह निश्चित है, कि पद्मिनी के रणभूमि में पहुँचने पर अवश्य ही उसे जीवित पकड़ने की चेष्टा की जायगी। ईश्वर न करे, शत्रु अपने उद्योग में सफल होगए, तो चित्तौड़ के राणाओं को मुँह दिखाने की जगह न रहेगी। इससे उचित यही है कि इन सबके लिए जौहर का प्रबन्ध करके तब रण-भूमि में चला जाय। सब क्षत्राणियाँ क़िले में बैठी देखती रहें, और जब शत्रुओं से लड़ते-लड़ते राजपूत

निश्शेष हो जाँय तब ये चिताओं में आग लगाकर भस्म हो जायँ।

यह विचार सब को पसन्द आया और इसके अनुसार ही चन्दन आदि की लकड़ियाँ एकत्र कर एक बड़ी चिता तैयार की गई। जब चिता तैयार हो चुकी, तब राजपूतों ने भी केसरिया वस्त्र धारण कर लिए। कुल तैयारियाँ हो चुकने पर सब वीर अपनी-अपनी स्त्रियों से अन्तिम भेंट कर रण में जूझने के लिए चल दिए। क़िले का द्वार खोल दिया गया। उसमें से सब राजपूत "एकलिंग भगवान् की जय" का गम्भीरनाद करते हुए, भूखे सिंहों की भाँति शत्रु-दल पर टूट पड़े! भीषण मार-काट मच गई। यद्यपि राजपूत संख्या में कम थे, पर उन्होंने घर-बार, स्त्री-बच्चे, यहाँ तक कि प्राणों का भी मोह त्याग कर, मान-मर्यादा की रक्षा के लिए मरना निश्चित कर लिया था। "एक मराऊ सौ को मारे" की कहावत के अनुसार एक-एक राजपूत सौ-सौ यवनों के लिए भारी होरहा था। वीर सीसौदिया जिस ओर झुक पड़ते, उधर ही सफ़ाया कर देते थे। खून में रँगी तलवारें सूर्यकिरणें पड़ने पर बिजली की तरह चमचमाती थीं। चारों ओर रुधिर-ही-रुधिर दिखाई देता था। देखते-ही-देखते युद्ध-भूमि रुण्ड-मुण्डों से पट गई।

उधर यवन सैनिक भी 'या अली' के नारे लगाते हुए जी तोड़ कर लड़ रहे थे। एक राजपूत बीस-पचीस शत्रुओं को मार कर मरता था। राजपूतों ने खूब मारकाट की, पर कोसों तक टीड़ी-दल के समान फैली हुई असंख्य यवन-सेना को वे कहाँ तक काटते। तलवार चलाते-चलाते जब वीर राजपूतों के हाथ शिथिल पड़ जाते, तब वे शत्रु के खड्ग का

निशान बन कर, सदा-सर्वदा के लिए समर-भूमि में सोजाते थे। इस प्रकार युद्ध करते-करते प्रायः सभी सीसोदिया वीर स्वर्ग सिधार गए।

जब क़िले में-से पद्मिनी ने देखा, कि लगभग सभी राजपूत काम आगए, और थोड़ी देर में बचे-खुचे भी परलोक-प्रयाण करेंगे, तो उसने सब क्षत्राणियों को संबोधन करके कहा—"बहिनो, देश, धर्म और मान-मर्यादा की रक्षा करते हुए हमारे सब पुरुष वीरगति प्राप्त कर चुके। कुछ ही देर में युद्ध समाप्त कर यवन क़िले पर आक्रमण करेंगे, इसलिए अब हमें अग्नि के विमान पर बैठ कर अपने स्वामियों के पास पहुँचने की तैयारी करनी चाहिए। यदि हमारे भस्म होने के पूर्व यवन-दल क़िले में घुस आया, तो मेवाड़ के असंख्य वीरों का बलिदान निरर्थक हो जायगा! अब देर करने का समय नहीं है, शीघ्र चिता पर बैठ जाओ।" पद्मिनी की आज्ञा पाते ही सब क्षत्राणियाँ चिता पर बैठ गईं। चिता में आग लगादी गई, थोड़ी ही देर में वह धू-धू करके जलने लगी। प्रथम अग्निदेव ने क्षत्राणियों के वस्त्रों और केशों का स्पर्श किया, फिर देखते-देखते सब राजपूतनियाँ जल कर भस्म होगईं। क्षत्राणियों ने जौहर करने के पूर्व क़िले में भी आग लगादी, जिससे वह शत्रुओं के उपयोग करने योग्य न रह जाय।

राजपूतों के समाप्त हो जाने पर अलाउद्दीन शीघ्रता से क़िले की ओर लपका, पर वहाँ अब क्या रक्खा था। केवल मकानों की जली हुई दीवारें और आदर्श क्षत्राणियों की पवित्र भस्म का ढेर! वहाँ का ऐसा दृश्य देख अलाउद्दीन हाथ मींड़ता हुआ कहने लगा—"हा, जिसके लिए मैंने इतने बेगुनाहों के

गले कटवाए, हज़ारों औरतों को बेवा और लाखों बच्चों को यतीम बनवाया, अफ़सोस, वह मुझे न मिली! कम्बख़्त काफ़िरों ने सरोसामान तो क्या, मकानों को भी बरबाद कर दिया! ख़ुदा ने इन्हें कितनी कुरबानी की ताक़त दी है। औरतों को देखिये, हँसती-बोलती हुई ज़िन्दा आग में जल जाती हैं। कहाँ मैं लम्बी-चौड़ी उम्मीदें बाँध रहा था, कि राजपूतों का ख़ात्मा होते ही क़िले में पहुँचूँगा, वहाँ इतने इन्तज़ार के बाद पद्मिनी से मुलाक़ात होगी, कहाँ यह अजीब माजरा दिखाई दे रहा है! बुरा हो इन कम्बख़्तों का, मेरी सब मुरादों पर पानी फेर दिया! अपने पीछे सिर्फ़ राख का ढेर और मकानों के खँडहर ही छोड़ गए।"

कहते हैं, पीछे अलाउद्दीन ने चिढ़ कर क़िले की दीवारों में बनी हुई मूर्तियों को तोड़ना-फोड़ना और वहाँ की प्राचीन कारीगरी को नष्ट-भ्रष्ट करना आरम्भ कर दिया। ठीक है, खिसियानी बिल्ली खम्भे को ही नोंचा करती है। जब अलाउद्दीन को जानदार मूर्तियाँ क़िले में न मिलीं तो बेजान प्रतिमाओं पर ही उसने अपना क्रोध झाड़ा। पर इससे क्या! राजपूत वीर तो अपना काम कर गए, उन्होंने तो मरते-मरते अपनी मान-मर्यादा की रक्षा की, और मरने के बाद भी वे उसे अग्निदेव को सौंप गए। वीर क्षत्राणियों ने भी जीवित चिता में जल कर अपने पुरुषों ही की भाँति स्वधर्म की रक्षा की। इस तप-त्याग के लिए पद्मिनी और उसकी साथनियों की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। पद्मिनी तुम धन्य हो, तुम्हारा पातिव्रत शतमुख से सराहनीय है। महाराणा भीमसिंह के शत्रुओं के चंगुल में फँस जाने पर जिस बुद्धिमत्ता से तुमने उनका उद्धार किया, वह तुम्हारा ही काम था। देवी!

तुम आज इस संसार में नहीं हो, तुम्हें स्वर्ग सिधारे छै सौ वर्ष से अधिक हो गए, पर तुम्हारी यशःपताका अब भी संसार में फहरा रही है। तुम्हारा पवित्र नाम आज भी प्रत्येक भारतीय की जिह्वा पर विराज रहा है। पद्मिनी तुम मर कर भी अमर हो गईं, और अपने त्याग द्वारा भारतीय नारियों के लिए एक आदर्श उपस्थित कर गईं।

महाराणा कुम्भा

कुम्भा राणा लाखाजी के पौत्र और मोकलजी के पुत्र थे। राणा लाखाजी के मोकलजी से बड़े चूँडाजी और राघवदेव नामक दो पुत्र और भी थे, जिन्होंने पितृ-भक्ति के आवेश में चित्तौड़ की गद्दी को तिलाञ्जलि देदी थी। घटना इस भाँति बताई जाती है, कि चूँडाजी जब विवाह-योग्य हुए, तब मंडोर (मारवाड़) के राव रणमल ने अपनी बहिन का सम्बन्ध चूँडाजी के लिए भेजा। जो नेगी टीके की सामग्री लेकर आए थे, उनसे लाखाजी ने हँसी में कह दिया—'क्या यह टीका मेरे लिए लाए हो?' नेगियों ने तो इस बात का कुछ भी उत्तर न दिया, पर चूँडाजी को जब राणाजी के उक्त कथन की सूचना मिली, तो उन्होंने उन से कहा—"पिताजी, जिस कन्या के साथ विवाह करने की आपने इच्छा प्रकट की है, उसके साथ मैं विवाह नहीं कर सकता। इस टीके को तो आप ही स्वीकार कीजिए। राणा लाखाजी ने चूँडा को बहुत समझाया, पर उन्होंने उनकी एक न मानी। यहाँ तक कि वह नई रानी के गर्भ से उत्पन्न होनेवाले पुत्र के लिए चित्तौड़ की गद्दी छोड़ने को भी तैयार होगए। लाखाजी ने जब चूँडाजी को अपने हठ पर इस भाँति अटल देखा, तो विवश होकर उस सम्बन्ध को उन्होंने ही स्वीकार कर लिया। लाखाजी का विवाह रणमल की बहिन के साथ हो गया और कुछ दिनों बाद उसके गर्भ से मोकलजी पैदा हुए।

चूँडाजी ने अपनी पूर्व प्रतिज्ञानुसार चित्तौड़ की गद्दी मोकलजी के लिए छोड़ दी। और आप एक जागीरदार की

तरह रहने लगे। मोकलजी के सात पुत्रों में कुम्भाजी सबसे बड़े थे। कुम्भाजी अभी अच्छी तरह समर्थ न हुए थे, कि मोकलजी की मृत्यु हो गई। मोकलजी पूर्णायु प्राप्त कर स्वाभाविक मौत नहीं मरे, बल्कि इन्हें अकाल ही में, चाचा और मेरा नामक दो व्यक्तियों ने, जो दूर के रिश्ते में इनके काका लगते थे, मारडाला। उक्त चाचा और मेरा नामक दोनों सरदार किसी कारण मोकलजी से चिढ़ कर उनकी जान के ग्राहक बन गए थे। इन्होंने एक दिन अवसर पाकर एकान्त में भजन करते हुए मोकलजी के हृदय में अचानक छुरा भोंक दिया, जिससे उनकी मृत्यु हो गई! घातक स्वयं भागकर मँदारिया नामक दुर्ग में जा छिपे।

मोकलजी की मृत्यु का दुःखद समाचार मेवाड़ में बिजली की तरह फैल गया। जब यह अशुभ संवाद चित्तौड़ में पहुँचा, तो वहाँ कुहराम मच गया। उस समय चित्तौड़ के राजकुमारों में कोई इतना समर्थ न था, जो मेवाड़ के राजसिंहासन को सँभालता, अतः राजमाता ने अपने भाई राव रणमल को शासन के लिए बुलाया। रणमल ने आकर सब को सान्त्वना दी और सारी शासन-व्यवस्था ठीक कर दी। सब से प्रथम रणमल ने मोकलजी के घातकों को उनके क्रूर कर्म का प्रतिफल चखाने के लिए मँदारिया किले पर चढ़ाई की। इस आक्रमण द्वारा रणमल चाचा और मेरा को पकड़ तो न पाए, हाँ, उन्हें मँदारिया दुर्ग में से निकाल अवश्य दिया। उक्त दोनों आततायी मँदारिया से भाग कर राताकोट्ट के एक पहाड़ी दुर्ग में जाछिपे और उसका जीर्णोद्धार कर वहीं रहने लगे।

मोकलजी का निधन-वृत्त सुन कर चूँडाजी भी चित्तौड़ पहुँचे और अपने अल्पवयस्क भतीजे कुम्भाजी को गद्दी पर बिठा, वहाँ का शासन स्वयं करने लगे। चूँडाजी निःस्वार्थ भाव से बड़ी लगन के साथ चित्तौड़ का प्रबन्ध करते थे। मोकलजी की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ राज्य की दशा बड़ी अस्त-व्यस्त हो गई थी। पहाड़ी लोग तो मोकलजी के सामने से ही बाग़ी हो रहे थे, उन्होंने जहाँ-तहाँ बड़ा उपद्रव मचा रक्खा था। चूँडाजी ने अपनी शासन-पटुता से थोड़े ही दिनों में सब ठीक-ठाक कर सर्वत्र शान्ति स्थापित करदी। राज्य-प्रबन्ध ठीक होने पर सब से पहला काम जो चूँडाजी ने किया, वह था चाचा और मेरा को उनके अक्षम्य अपराध का उचित दण्ड देना। चूँडाजी अपनी मेवाड़ी सेना लेकर राताकोट्ट के दुर्ग पर, जिसमें चाचा-मेरा रहते थे, चढ़ गए। उस समय सूजा नामक एक चौहान जिसकी कन्या को चाचा और मेरा पहले चुरा लाए थे, अपने अपमान का बदला लेने की इच्छा से चूँडाजी के साथ आ मिला।

राताकोट्ट का पहाड़ी दुर्ग अति दुर्गम्य था। अपरिचित व्यक्ति के लिए उसमें भीतर तक पहुँचना अति कठिन था। इस अवसर पर सूजा ने बड़ी चालाकी से काम लिया। उन दिनों चाचा और मेरा क़िले की मरम्मत करा रहे थे। इसके लिए बहुत-से राज-मज़दूर बाहर से क़िले में आया-जाया करते थे। सूजा भी वेश बदल कर इन मज़दूरों में मिल गया और कई दिनों तक क़िले में जा-जाकर वहाँ के सब मार्गों और गुप्त स्थानों को देख आया। अब क्या था, एक दिन रात्रि के समय चूँडा अपने सैनिकों सहित सूजा के बताए मार्ग द्वारा क़िले में घुस गया और उन अत्याचारियों

को यम-धाम भेज दिया। इस प्रकार दोनों आततायियों को उनकी करनी का कटु फल चखाकर, चूँडाजी चित्तौड़ लौट आए।

मोकलजी के घातकों को दण्ड दे और पहाड़ी विद्रोहियों को वश में कर चूँडाजी ने चित्तौड़ का शासन सुदृढ़ और सुरक्षित बनाना आरम्भ कर दिया। अब चूँडाजी के प्रबन्ध-कौशल से चित्तौड़ की दिन दूनी उन्नति होने लगी। चूँडाजी की राज-व्यवस्था से सब लोग बड़े सन्तुष्ट थे। सर्वत्र चूँडाजी के चातुर्य का यशोगान होने लगा। राज-परिवार को तो चूँडाजी पर इतना भरोसा था, कि कोई उनके कार्यों की ओर आँख उठाकर भी न देखता था।

चूँडाजी की यह प्रतिष्ठा राव रणमल से न देखी गई। उसने राजमाता (अपनी बहिन) को बहका-फुसला कर चूँडाजी के विरुद्ध उभाड़ना शुरू किया। वह चाहता था, कि किसी प्रकार चूँडाजी को हटा कर कुम्भाजी का अभिभावक मैं बन जाऊँ, और धीरे-धीरे मेवाड़ राज्य मारवाड़ में सम्मिलित करलूँ। चुगल मुँह लगा बुरा होता है। दिन-रात की कहा-सुनी से आख़िर राजमाता की बुद्धि पलट गई और उसने मेवाड़-शासन की बागडोर रणमल को सौंप दी। चूँडाजी को कुछ लोभ तो था नहीं, जो चित्तौड़ का शासन-भार छोड़ने में उन्हें दुःख होता। वह तो पहले ही राज-सिंहासन मोकल के लिए छोड़ चुके थे। राजमाता का संकेत पाते ही चूँडाजी चित्तौड़ त्याग कर माँडू सुल्तान ख़िलजी के यहाँ चले गए। ख़िलजी ने चूँडाजी का बड़ा आदर किया और उन्हें एक बड़ी जागीर देकर अपना मुख्य जागीरदार बना लिया।

चूँडाजी के चले जाने पर मेवाड़ का शासन-प्रबन्ध रणमल के हाथ आया और उसने धीरे-धीरे उस पर क़ाबू करना आरम्भ कर दिया। सब से पहले उसने राज्य के बड़े-बड़े पदों पर से सीसोदिया सरदारों को हटाकर उनकी जगह मारवाड़ी भरे। पीछे छोटी-छोटी जगहों पर, और अन्त में सेना में भी यही अदल-बदल की गई। चित्तौड़-भर में राठौर-ही-राठौर दिखाई देने लगे। अब सीसोदियाओं को कोई पूछता भी न था। चित्तौड़ अपने हाथ में कर रणमल स्वच्छन्दता पूर्वक विषय-विलास और अत्याचार करने लगा। कुम्भाजी को तो रणमल ने एक प्रकार से अपना बन्दी बना लिया था। बिना रणमल की इच्छा और आज्ञा के वह कुछ भी न कर पाते थे, यहाँ तक कि उन्हें क़िले से बाहर जाने तक की आज्ञा न थी।

जब अत्याचारी रणमल महल की दासियों और प्रजा की बहू-बेटियों को भी कुदृष्टि से देखने लगा, तब लोगों में हल-चल मची। धीरे-धीरे राजमाता के कानों तक रणमल की शिकायतें पहुँचने लगीं। अन्त में जब राजमाता ने स्वयं भी रणमल की मनोवृत्ति को अच्छी तरह देख और समझ लिया, तब उन्हें लोगों की बातों पर विश्वास होने लगा। चूँडाजी के चले जाने पर उनके अनुज राघवदेव कभी-कभी रणमल के कामों में हस्तक्षेप कर दिया करते थे, इसलिए रणमल ने षड्यन्त्र रच कर उन्हें भी मरवा डाला। राघवदेव की मृत्यु से तो सब को बिल्कुल निश्चय हो गया, कि रणमल के पेट में पाप है, और वह चित्तौड़ के राजसिंहासन को हड़पना चाहता है। इस समय राजमाता को बड़ी चिन्ता हुई, पर हो क्या सकता था। अब तो चित्तौड़ पर रणमल पूरा कब्ज़ा कर

चुका था। न्यायालय, पुलिस, पहरा यहाँ तक कि सेना में भी सब रणमल के ही आदमी थे।

जब राजमाता सब ओर से निराश हो गईं तब उन्हें चूँडाजी की याद आई। उन्होंने गुप्त रूप से चूँडाजी को अपनी सारी कथा कहला भेजी। चूँडाजी ने सन्देश-वाहक से कहा—"राजमाता से कह देना, वह घबरायँ नहीं, मैं शीघ्र ही मेवाड़ आकर रणमल के हाथों से चित्तौड़ का उद्धार करूँगा।" चूँडाजी ने अपने कुछ सैनिक तो धीरे-धीरे पहले ही चित्तौड़ भेज दिए। फिर कुछ दिनों बाद स्वयं भी एक बड़ी सेना सहित चढ़ आए और उन्होंने रणमल तथा उसके साथियों को अचेतावस्था में ही घेर लिया। चूँडाजी के पहुँचते ही, पहले से आए हुए उनके साथी भी तुरन्त उनसे आ मिले। शत्रु को अचानक सिर पर सवार देख रणमल की सेना के छक्के छूट गए। उससे घबराहट में कुछ भी करते-धरते न बना और वह चित्तौड़ छोड़ मारवाड़ की ओर भाग निकली। रणमल इस लड़ाई में मारा गया और उसके दोनों लड़के अपनी जान बचाकर भाग गए। चूँडाजी ने रणमल को मारकर चित्तौड़ तो स्वतन्त्र किया ही, साथ ही मारवाड़ पर भी अपना अधिकार कर लिया और वहाँ भी राणा कुम्भाजी की विजय-पताका फहराने लगी।

अब कुम्भाजी भी उतने बालक नहीं रहे थे, वे अपना हित-अनहित समझने और राज-काज में भी सम्मति देने लगे थे। चूँडाजी की संरक्षकता में कुम्भाजी ने चित्तौड़ का शासन-भार सँभालना और उसकी उन्नति करना आरम्भ कर दिया। बालक होते हुए भी, कुम्भाजी ने अब तक अनेक छोटी-छोटी लड़ाइयों में अपनी अपूर्व वीरता दिखाई थी। वह वीर होने के साथ ही उदार और दयालु भी थे। उन्होंने चूँडाजी द्वारा

जीता हुआ मंडौर राज्य, रणमल के बेटे जोधा को लौटा दिया। जो रणमल कुम्भाजी के हाथों से चित्तौड़ का सिंहासन छीन चुका था, उसके बेटों के साथ ऐसा उदारतापूर्ण व्यवहार क्या कम दयालुता का द्योतक था! कुम्भाजी ने होश सँभालते ही बड़ी योग्यता से शासन प्रारम्भ किया। उन्होंने यवनों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट किए हुए कितने ही देवालयों, दुर्गों, सरोवरों और कुओं का जीर्णोद्धार कराया। जहाँ आवश्यकता समझी वहाँ नए दुर्ग भी बनवाए और उनमें स्थायी रूप से सेना रखदी। कुम्भाजी ने मेवाड़ के आस-पास की अनेक छोटी-मोटी राज-शक्तियों को वश में कर, उन्हें अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार राठौर, परमार, झाला, हाड़ा, चौहान आदि सभी राणा के वशवर्ती हो गए।

इन्हीं दिनों नागौड़-सिंहासन के असली अधिकारी शम्सख़ाँ को उसका छोटा भाई मुजहिदख़ाँ गद्दी से उतार स्वयं उसका अधिकारी बन बैठा था। शम्सख़ाँ निराश होकर कुम्भाजी के पास आया, और उनसे अपनी सहायता के लिए प्रार्थना की। राणाजी इस शर्त पर उसे उसकी गद्दी दिलाने को उद्यत हो गए कि नागौड़ पर कब्ज़ा करके वह अपने क़िले का एक भाग गिरा देगा और स्वयं चित्तौड़ के अधीन होकर रहेगा। शम्स ने उस समय तो राणा की शर्त मंज़ूर कर ली, परन्तु पीछे उसके विरुद्ध कार्यवाही की। अर्थात् नागौड़ राज्य पर अधिकार होते ही क़िले का भाग गिराना तो अलग रहा, उसे और सुदृढ़ कराना आरम्भ कर दिया। राणा को शम्स की यह शरारत बहुत नापसन्द आई और उन्होंने उसी समय नागौड़ पर चढ़ाई करने की तैयारी कर दी।

जब शम्सख़ाँ ने सुना कि चित्तौड़ की सेना उस पर चढ़-
: आ रही है, तो उसने गुजरात के क़ुतुबशाह को अपनी
[द के लिए बुलाया। क़ुतुबशाह का तो पहले ही चित्तौड़
[दाँत था, उसने यह उपयुक्त अवसर देख तुरन्त ही अपनी
ना नागौड़-सुल्तान की सहायता के लिए भेज दी। राणाजी
भी यह बात छिपी न रही। उन्होंने विचार किया कि
गौड़ पर चढ़ाई करने से पूर्व क़ुतुबशाह को मार्ग में ही घेर
र परास्त करना चाहिए। इसी निश्चय के अनुसार राणा
कुम्भा गुजरात-सुल्तान का मार्ग रोक कर डट गए और
जब उसकी फ़ौज आई, तो उसे मार्ग ही में मार भगाया।
गुजराती फ़ौज को परास्त कर कुम्भाजी नागौड़ की ओर
बढ़े। जब शम्सख़ाँ ने सुना कि कुम्भा ने क़ुतुबशाह की सेना
तो रास्ते ही में से मार कर भगादी, और अब वह नागौड़ की
तरफ़ बढ़ा आ रहा है, तो उसके होश उड़ गए और उसने
तुरन्त लड़ाई का विचार त्याग राणा से क्षमा माँगली।

क़ुतुबशाह की सेना भाग कर गुजरात पहुँची, तो गुज-
रात-सुल्तान को बड़ा ग़ुस्सा आया। उसने उसी समय शम्स
के पास सूचना भेजी, कि मैं अबकी बार ख़ुद पूरी तैयारी से
आ रहा हूँ, तुम भी राणा से लड़ने के लिए तैयार हो जाओ।
कुम्भाजी को भी इस तैयारी का हाल मालूम हो गया। वह
भी दल-बल सहित नागौड़ की ओर चल दिए और क़ुतुब-
शाह की सेना आने से पूर्व ही नागौड़ को जीत तथा
वहाँ अपना चौकी-पहरा बैठा कर गुजरात की ओर बढ़े।
इस बार कुम्भाजी ने नागौड़ की शक्ति को बिलकुल छिन्न-
भिन्न कर दिया तथा उसके दुर्ग को भी गिरवा दिया था।
कहते हैं, नागौड़-दुर्ग के फाटक को कुम्भाजी अपने साथ

ले गए, जिसे पीछे उन्होंने अपने बनवाए कुम्भलमेर के क़िले में लगवाया।

उधर से कुतुबशाह अपनी सारी सेना सहित आबू सिरोही आदि राजपूत-रियासतों को जीतता हुआ चला आ रहा था। इधर से कुम्भाजी भी नागौड़ पर विजय प्राप्त कर गुजरात की ओर बढ़े जा रहे थे। मार्ग में दोनों की मुठभेड़ हुई। दोनों दलों के सामने होते ही घमासान लड़ाई होने लगी। यवन सैनिक पूरे पराक्रम से, जी तोड़ कर लड़े, परन्तु राजपूतों के मुक़ाबिले में वे डट न सके। गुजरात-सुल्तान की फ़ौज के पैर उखड़ गए और वह मैदान छोड़ कर भाग निकली। राणा की फ़ौज ने उसका पीछा किया और वह गुजरात का बहुत-सा भाग अपने अधिकार में कर वापस लौट आई।

मालवा और गुजरात दोनों अलग-अलग होकर चित्तौड़ पर विजय प्राप्त न कर सके, बल्कि परास्त होकर भाग गये। इसलिए अब उन दोनों ने सम्मिलित होकर मेवाड़ पर आक्रमण करने का मंसूबा बाँधा। गुजरात और मालवा के सुल्तानों ने निश्चय किया कि इस बार मेवाड़ को तोड़-फोड़ कर अपने राज्यों में मिला लिया जाय। उन्होंने यहाँ तक हवाई क़िले बाँधे कि चित्तौड़-विजय करके मेवाड़ का अमुक भाग मालवा में मिलाया जायगा और अमुक गुजरात-सुल्तान के अधिकार में रहेगा। पर वे यह न जानते थे कि सीसौदियाओं से लोहा लेना खेल नहीं है, उनसे लड़ना लोहे के चने चबाना है। गुजरात और मालवा के बादशाहों ने मेवाड़-विजय के लिए अपनी सैन्य-शक्ति बढ़ानी प्रारम्भ करदी, फ़ौज में नए-नए सिपाही भर्ती किए जाने लगे। रसद तथा लड़ाई का सामान भी इकट्ठा होने लगा।

६

उधर महाराणा कुम्भाजी से भी यवन शासकों का उक्त शार छिपा न रह सका। जब उनको सूचना मिली, कि ालवा और गुजरात के सुल्तान मेवाड़ पर चढ़ाई करने तैयारी कर रहे हैं, तो वह भी सतर्क होगए। राणा ने पने सभी सरदारों, जागीरदारों तथा मित्र नरेशों के पास ण-निमन्त्रण भेज दिये। राणा की आज्ञा पाते ही, चारों ओर राजपूत-सेनाएँ आ-आकर चित्तौड़ में एकत्र होने लगीं। शाल मैदान में छावनी पड़ गईं, डेरे खड़े होगए और न पर रंग-विरंगे झंडे फहराने लगे। जिधर निगाह उठती धर सैनिक-ही-सैनिक दिखाई देते थे। उस समय चित्तौड़ का दृश्य दर्शनीय हो रहा था। कहीं गजराजों की पंक्ति झूम रही थी, कहीं कोसों तक घोड़े-ही-घोड़े नजर पड़ते थे। एक ओर बार बरदारी के ऊँटों का जमघट था तो दूसरी ओर खिच्चरों के झुण्ड लगे हुए थे। दूर तक खड़े हुए पंक्तिबद्ध श्वेत पट-मण्डपों की निराली छटा दिखाई देती थी। भिन्न-भिन्न वेश-भूषा धारण किए रणवीर राजपूत अपने वीर वचनों से वैरियों के दिल दहला रहे थे।

जब सब सेनाएँ एकत्र होगईं तो, कुम्भाजी ने निश्चय किया कि शत्रुओं को मेवाड़ पर चढ़ने का अवसर न देकर उनके ही ऊपर आक्रमण करना चाहिए। ऐसा करने में राजपूत-प्रजा युद्ध के कारण आनेवाली अनेक आपत्तियों से बच जायगी। प्रायः देखा जाता है कि, यवन लोग विजयी न होकर शत्रु के देश में लूट-मार मचा देते और उसकी खेती-बारी नष्ट कर डालते हैं। इसलिए हमें अपनी राज्य-सीमा में शत्रुओं को घुसने ही न देना चाहिए। इसके अनन्तर कुम्भाजी ने अपनी सेना को आज्ञा दी कि कल प्रातःकाल ही

यहाँ से कूच करना है, इसलिए मेरे आने से पहले ही आप सब लोग चलने के लिए तैयार होजायँ।

दूसरे दिन सूर्योदय से पूर्व ही समस्त डेरे-तम्बू उखाड़ कर ऊँटों और गाड़ियों पर लाद दिए गए। हाथियों पर हौदे तथा घोड़ों पर ज़ीन कसे जाने लगे। राजपूत वीर कवच एवं शस्त्रास्त्र धारण कर सन्नद्ध हो गए और कूच के नगाड़े बजने लगे। सब लोग तैयार होकर राणाजी के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे कि इतने ही में दुर्ग के अन्दर ढोल, धौंसा, भेरी और शहनाइयों के बजने की आवाज़ सुनाई दी। बाजों की ध्वनि सुन सब समझ गए कि राणा आ रहे हैं, अतः सब सर्दार भी अपनी-अपनी सवारियों पर चढ़ चलने के लिए उद्यत हो गए। राणा के आते ही युद्ध-वाद्यों के शब्द, 'एक लिङ्ग भगवान् की जय' और 'मेवाड़ के महाराणा की जय' के गम्भीर घोष से दशों दिशाएँ गूँज उठीं। कुम्भाजी ने तुरन्त कूच करने की आज्ञा दे दी।

सब के आगे महाराणा कुम्भा का हाथी था। उसके पीछे मित्र नरेशों तथा जागीरदारों के हाथी थे। फिर सैकड़ों हाथियों की पंक्ति झूमती हुई चली जा रही थी। सबको देख कर ऐसा मालूम होता था मानो प्रलय-काल की मेघ-माला भूमि पर उतर आई है। घोड़ों और पैदलों के पद-प्रहार से उड़ी हुई धूल ने आकाश का रंग मटमैला कर दिया था। योद्धाओं में अपूर्व युद्धोत्साह दिखाई देता था। सब की यही अभिलाषा थी कि कब शत्रु सामने आवें और कब हम अपने चिर पिपासित खड्गों को उनका उष्ण रक्त पान कराके तृप्त करें। धीरे-धीरे राणा की सम्पूर्ण सेना मेवाड़ और मालवा की सीमा पर पहुँच गई। कुम्भाजी ने यहीं स्थान अपना मोरचा

यहाँ से कूच करना है, इसलिए मेरे आने से पहले ही आप सब लोग चलने के लिए तैयार होजायँ।

दूसरे दिन सूर्योदय से पूर्व ही समस्त डेरे-तम्बू उखाड़ कर ऊँटों और गाड़ियों पर लाद दिए गए। हाथियों पर हौदे तथा घोड़ों पर ज़ीन कसे जाने लगे। राजपूत वीर कवच एवं शस्त्रास्त्र धारण कर सन्नद्ध हो गए और कूच के नगाड़े बजने लगे। सब लोग तैयार होकर राणाजी के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे कि इतने ही में दुर्ग के अन्दर ढोल, धौंसा, भेरी और शहनाइयों के बजने की आवाज़ सुनाई दी। बाजों की ध्वनि सुन सब समझ गए कि राणा आ रहे हैं, अतः सब सर्दार भी अपनी-अपनी सवारियों पर चढ़ चलने के लिए उद्यत हो गए। राणा के आते ही युद्ध-बाजों के शब्द, 'एक लिङ्ग भगवान् की जय' और 'मेवाड़ के महाराणा की जय' के गम्भीर घोष से दशों दिशाएँ गूँज उठीं। कुम्भाजी ने तुरन्त कूच करने की आज्ञा दे दी।

सब के आगे महाराणा कुम्भा का हाथी था। उसके पीछे मित्र नरेशों तथा जागीरदारों के हाथी थे। फिर सैकड़ों हाथियों की पंक्ति झूमती हुई चली जा रही थी। सबको देख कर ऐसा मालूम होता था मानो प्रलय-काल की मेघ-माला भूमि पर उतर आई है। घोड़ों और पैदलों के पद-प्रहार से उड़ी हुई धूल ने आकाश का रंग मटमैला कर दिया था। योद्धाओं में अपूर्व युद्धोत्साह दिखाई देता था। सब की यही अभिलाषा थी कि कब शत्रु सामने आवें और कब हम अपने चिर पिपासित खड्गों को उनका उष्ण रक्त पान कराके तृप्त करें। धीरे-धीरे राणा की सम्पूर्ण सेना मेवाड़ और मालवा की सीमा पर पहुँच गई। कुम्भाजी ने यहीं स्थान अपना मोरचा

उधर महाराणा कुम्भाजी से भी यवन शासकों का उक्त विचार छिपा न रह सका। जब उनको सूचना मिली, कि मालवा और गुजरात के सुल्तान मेवाड़ पर चढ़ाई करने की तैयारी कर रहे हैं, तो वह भी सतर्क होगए। राणा ने अपने सभी सरदारों, जागीरदारों तथा मित्र नरेशों के पास रण-निमन्त्रण भेज दिये। राणा की आज्ञा पाते ही, चारों ओर से राजपूत-सेनाएँ आ-आकर चित्तौड़ में एकत्र होने लगीं। विशाल मैदान में छावनी पड़ गईं, डेरे खड़े होगए और उन पर रंग-बिरंगे झंडे फहराने लगे। जिधर निगाह उठती उधर सैनिक-ही-सैनिक दिखाई देते थे। उस समय चित्तौड़ का दृश्य दर्शनीय हो रहा था। कहीं गजराजों की पंक्ति झूम रही थी, कहीं कोसों तक घोड़े-ही-घोड़े नजर पड़ते थे। एक ओर बार बरदारी के ऊँटों का जमघट था तो दूसरी ओर खिच्चरों के झुण्ड लगे हुए थे। दूर तक खड़े हुए पंक्तिबद्ध श्वेत पट-मण्डपों की निराली छटा दिखाई देती थी। भिन्न-भिन्न वेश-भूषा धारण किए रणवीर राजपूत अपने वीर वचनों से वैरियों के दिल दहला रहे थे।

जब सब सेनाएँ एकत्र होगईं तो, कुम्भाजी ने निश्चय किया कि शत्रुओं को मेवाड़ पर चढ़ने का अवसर न देकर उनके ही ऊपर आक्रमण करना चाहिए। ऐसा करने में राजपूत-प्रजा युद्ध के कारण आनेवाली अनेक आपत्तियों से बच जायगी। प्रायः देखा जाता है कि, यवन लोग विजयी न होकर शत्रु के देश में लूट-मार मचा देते और उसकी खेती-बारी नष्ट कर डालते हैं। इसलिए हमें अपनी राज्य-सीमा में शत्रुओं को घुसने ही न देना चाहिए। इसके अनन्तर कुम्भाजी ने अपनी सेना को आज्ञा दी कि कल प्रातःकाल ही

यहाँ से कूच करना है, इसलिए मेरे आने से पहले ही आप सब लोग चलने के लिए तैयार होजाएँ।

दूसरे दिन सूर्योदय से पूर्व ही समस्त डेरे-तम्बू उखाड़ कर ऊँटों और गाड़ियों पर लाद दिए गए। हाथियों पर हौदे तथा घोड़ों पर ज़ीन कसे जाने लगे। राजपूत वीर कवच एवं शस्त्रास्त्र धारण कर सन्नद्ध हो गए और कूच के नगाड़े बजने लगे। सब लोग तैयार होकर राणाजी के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे कि इतने ही में दुर्ग के अन्दर ढोल, धौंसा, भेरी और शहनाइयों के बजने की आवाज़ सुनाई दी। बाजों की ध्वनि सुन सब समझ गए कि राणा आ रहे हैं, अतः सब सर्दार भी अपनी-अपनी सवारियों पर चढ़ चलने के लिए उद्यत हो गए। राणा के आते ही युद्ध-वाद्यों के शब्द, 'एक लिङ्ग भगवान् की जय' और 'मेवाड़ के महाराणा की जय' के गम्भीर घोष से दशों दिशाएँ गूँज उठीं। कुम्भाजी ने तुरन्त कूच करने की आज्ञा दे दी।

सब के आगे महाराणा कुम्भा का हाथी था। उसके पीछे मित्र नरेशों तथा जागीरदारों के हाथी थे। फिर सैकड़ों हाथियों की पंक्ति झूमती हुई चली जा रही थी। सबको देख कर ऐसा मालूम होता था मानो प्रलय-काल की मेघ-माला भूमि पर उतर आई है। घोड़ों और पैदलों के पद-प्रहार से उड़ी हुई धूल ने आकाश का रंग मटमैला कर दिया था। योद्धाओं में अपूर्व युद्धोत्साह दिखाई देता था। सब की यही अभिलाषा थी कि कब शत्रु सामने आवें और कब हम अपने चिर पिपासित खड्गों को उनका उष्ण रक्तपान कराके तृप्त करें। धीरे-धीरे राणा की सम्पूर्ण सेना मेवाड़ और मालवा की सीमा पर पहुँच गई। कुम्भाजी ने यही स्थान अपना मोरचा

जमाने के लिए उपयुक्त समझा। राणा को विश्वास था कि यवन सेना इसी जगह होकर आवेगी। क्योंकि मालवा से मेवाड़ आने के लिए सुगम मार्ग दो पहाड़ियों के बीच का दर्रा था, जो इसी स्थान पर आकर मैदान से मिला था। पहाड़ी घाटी से निकलते ही एक विशाल मैदान था, जिसके दोनों पार्श्वों में मीलों तक घनी झाड़ियाँ चली गई थीं। सामने की ओर मेवाड़ की ऊँची चढ़ाई थी। कुम्भाजी ने इसी ऊँची चढ़ाई पर अपनी सेना जमा दी। राणा ने सेना का कुछ भाग मैदान के इधर-उधर की झाड़ियों और घाटी के दोनों ओर की पहाड़ियों में छिपा दिया, जिससे आवश्यकता के समय यवनों पर चारों ओर से आक्रमण किया जा सके। कुम्भाजी इस स्थान को देख कर बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—"प्रकृति ने पहले ही से हमारे मोरचे के लिए ऐसा उपयुक्त स्थान बना दिया है। साथ ही सौभाग्य की बात यह है कि हम लोग यवनों के आने से पूर्व ही इस जगह आ पहुँचे। चित्तौड़ के भाग्य अच्छे मालूम होते हैं, निस्सन्देह राजपूतों की विजय होगी।"

सब प्रबन्ध ठीक हो चुकने पर कुम्भाजी ने कुछ सवारों को यवन-सेना का पता लगाने के लिए भेजा। इसी बीच में राणा ने अपने शूर-सामंतों को संबोधन कर कहा—"वीरो, युद्ध में राजपूतों का क्या कर्त्तव्य है, यह बात आप अच्छी तरह जानते हैं, युद्ध आपके लिए कोई नई बात नहीं है। हाँ, यह बात आप भली भाँति समझ लें कि मैंने आप लोगों को कष्ट देने के लिए अकारण ही यह लड़ाई मोल नहीं ली, प्रत्युत पहले शत्रुओं की ओर से ही सिर उठाया गया है। मालवा और गुजरात दोनों एकत्र होकर व्यर्थ ही हम लोगों पर

चढ़ाई कर रहे हैं। जब मुझे इनके इस आक्रमण की निश्चित सूचना मिली, तभी मैंने आपको कष्ट दिया है। अब आप लोगों को अधिकार है, कि शत्रुओं के हाथ से अपनी जननी-जन्म-भूमि की रक्षा करें या न करें। मैं तो समझता हूँ, आप लोग जिस अदम्य उत्साह से यहाँ तक आए हैं, उसे प्राण रहते हुए बराबर बनाए रक्खेंगे। मुझे विश्वास है कि आप शत्रुओं को मार कर विजय-लक्ष्मी का आलिंगन करेंगे अथवा युद्ध में कीर्ति छोड़ कर स्वर्ग सिधारेंगे। इन दो बातों के अतिरिक्त राजपूत तीसरी बात नहीं करते। बस अब शत्रु-संहार के लिए तैयार हो जाओ।"

राणा का उत्साह-वर्द्धक भाषण सुन वीर राजपूतों की भुजाएँ फड़कने लगीं। उन्हें व्यर्थ बैठना असह्य हो गया। सब ही के हृदयों में युद्ध की लहरें उठ रही थीं। वे चाहते थे कि कब शत्रु-दल सामने आवे और कब हम भूखे सिंहों के समान उस पर टूट पड़ें। अस्तु, कुम्भाजी ने समस्त हाथियों को अपनी सेना के सामने खड़ा किया, जिससे शत्रुओं के प्रहारों से राजपूत सैनिक सुरक्षित रहें। राणा यह सब व्यवस्था कर ही रहे थे कि उन्हें घाटी में से अपने सवार आते दिखाई दिए। कुम्भाजी उन्हें देखते ही समझ गए कि शत्रु-सेना समीप आ पहुँची है। इतने ही में सवारों ने आकर राणा को सूचना दी कि महाराज, शत्रु-सेना बढ़ी चली आ रही है। यथा सम्भव आध घंटे में वे लोग यहाँ आ जायँगे। राणा ने उसी समय भेरी-नाद द्वारा संकेत करके सब सेना को सचेत कर दिया। साथ ही, सर्वत्र यह भी घोषणा कर दी कि जब तक सम्पूर्ण यवन-सेना घाटी से निकल कर मैदान में न आ जाय, तब तक कोई उस पर वार न करे। भेरी-नाद सुनते ही

समस्त राजपूत, शस्त्रास्त्र सम्हाल कर शत्रुओं पर टूट पड़ने के लिए तैयार हो गए।

राजपूत सैनिकों की आँखें घाटी के मुहाने की ओर लगी हुई थीं, इतने ही में यवन-सेना वहाँ पहुँची। शत्रुओं ने जो मैदान के सामने चौदहसौ हाथियों की लम्बी-चौड़ी दीवार खड़ी देखी, तो वे वहीं ठिठक रहे! प्रधान सेनापति ने हाथियों को देख तुरन्त अनुमान कर लिया कि शत्रु सामने है। उसने अपनी फ़ौज को शीघ्रता-पूर्वक उस विशाल मैदान में फैला कर मोर्चा बना लिया। इतने ही में राणा की ओर से मारू बाजे बजने लगे। बाजों का बजना था कि राजपूत-सेना यवनों पर गोले तथा तीर बरसाने लगी। अब क्या था, मुसलमानों की ओर से भी बन्दूकें चलने लगीं। भयंकर मार-काट मच गई। लोथों पर लोथ गिरने लगीं और ख़ून के नाले बह निकले! झाड़ी में-से राजपूतों की चलाई हुई सब गोलियाँ ठीक निशाने पर लगती थीं, पर उनके जवाब में किए गए वैरियों के वार व्यर्थ जाते थे। इस प्रकार यवनों का संहार अधिक होता था। राणा ने जब देखा कि इस तरह शत्रु क़ाबू में न आवेंगे तो वह स्वयं अपने साथियों समेत आगे बढ़े। राणा ने पहले ही आक्रमण में यवनों की हरावल तोड़ दी, जिससे उनकी सम्पूर्ण सेना में हलचल मच गई। उधर झाड़ियों में बैठे सिपाही भी तलवारें हाथों में ले पिल पड़े। इस समय तीन ओर से किए गए भयङ्कर आक्रमण को यवन लोग सँभाल न सके, और वे घबरा कर घाटी की ओर बढ़ने लगे। परन्तु जब दोनों ओर की पहाड़ियों से भी गोलियाँ बरसने लगीं, तो उनके होश उड़ गए। अपने सैनिकों को विचलित देख, गुजरात और मालवा के सुल्तानों ने आगे बढ़कर उन्हें धैर्य बँधाना और संगठित

करना चाहा, पर वे न ठहर सके और जिधर जिसका मुँह उठा उधर ही वह भाग निकला! इस भगदड़ में गुजरात-सुल्तान भी जान बचा कर भाग गया। मालवाधीश अपने कुछ सैनिकों सहित मैदान में डटा रहा परन्तु अन्त में वीर राणा ने उसे तथा उसके साथियों को जीवित ही पकड़ लिया।

इस प्रकार यह भीषण संग्राम समाप्त हुआ। राणा कुम्भा बन्दी सुल्तान और उसके साथियों को साथ ले विजय-दुंदुभि बजाते हुए चित्तौड़ लौटे। चित्तौड़ में बड़ी धूम-धाम से स्वागत किया गया। विजयी वीरों को पुष्प-मालाएँ पहनाई गईं। राणा ने इस विजय के उपलक्ष्य में अनेक वीर योद्धाओं को जागीरें दीं। सिपाहियों को जोड़े, घोड़े, कड़े, तलवार आदि पारितोषिक बाँटे गए। युद्ध में काम आ-जाने वाले वीर सैनिकों के स्त्री-बच्चों के लिए वृत्तियाँ नियत करदीं। राणा अपने सैनिकों को नौकर न समझ उन्हें भी अपनी तरह एक देश-सेवक के रूप में देखते थे। यही कारण था कि उनके वीर योद्धा लड़ाई में प्राणों की बाजी लगा देते थे। उनके हृदयों में ये भाव कभी न आते थे कि हम साधारण नौकर, नौकरी के कारण क्यों अपने जीवन बर्बाद करें। वे जानते थे कि प्रजा अपनी कमाई में से थोड़ा-थोड़ा धन कर-रूप में इसीलिए देती है कि हम जीविकोपार्जन की ओर से निश्चिन्त रह कर, देश की रक्षा करें। यही भाव थे, जो राजपूतों को, यवनों की भाँति युद्धक्षेत्र से भागने न देते थे। चित्तौड़ में कई दिनों तक बाहर से आई सेनाओं का आतिथ्य होता रहा। नगर में भाँति-भाँति के आमोद-प्रमोद मनाए गए।

कुम्भाजी ने अपने बन्दी मालवा-सुल्तान के साथ भी बड़ा उदारतापूर्ण व्यवहार किया। उन्होंने सुल्तान को क़ैदियों की

भाँति कारागार में नहीं, बल्कि एक सुन्दर सुसज्जित महल में मेहमानकी तरह रक्खा और उसकी समस्त सुख-सुविधाओं का उचित प्रबन्ध कर दिया। सच्चे वीरों का स्वभाव है कि वे निर्बलों और शरणागतों पर बल-प्रयोग नहीं करते। इसी नियम के अनुसार कुम्भाजी भी विजित बन्दी मालवा-सुल्तान के प्रति कोई ऐसा व्यवहार न करते थे, जिससे उसके दुखी हृदय को ठेस पहुँचे। सुल्तान के साथी सैनिक भी सर्वत्र स्वतन्त्रतापूर्वक घूमते फिरते थे, केवल उन्हें चित्तौड़ से बाहर जाने की आज्ञा न थी। राणा ने हथकड़ी-बेड़ियों द्वारा शत्रुओं के शरीरों को नहीं कसा, बल्कि अपने प्रेम-पाश में उन्हें फाँस रक्खा था। यवन सैनिक राजपूतों के स्वागत-सत्कार से इतने प्रसन्न थे, कि उनका चित्तौड़ से जाने को जी न चाहता था। वे एक प्रकार से राणा के क्रीतदास बन गए थे।

कुम्भाजी युद्ध से लौट कर अभी पूरी तरह विश्राम भी न कर पाए थे, कि अचानक उन्हें चित्तौड़ पर दिल्ली की शाही फ़ौज के बढ़ आने की सूचना मिली। राणा भला लड़ाई से कब डरने वाले थे, उन्होंने अपने विजयोत्साह-सम्पन्न सैनिकों को तुरन्त युद्ध के लिए तैयार कर दिया। दिल्लीश्वर ने कदाचित् यह समझा था कि इस समय आक्रमण करने से मेवाड़ सहज ही में फ़तह किया जा सकेगा, क्योंकि राजपूत सैनिक हारे-थके होंगे। परन्तु उसे यह पता न था कि राजपूतों की जितनी शक्ति युद्ध में क्षीण हुई है, विजयोल्लास के कारण उससे कहीं अधिक वह बढ़ गई है। साथ ही, बाहर की आई हुई सब सहायक सेनाएँ भी अभी चित्तौड़ ही में डटी हुई हैं।

राणा की आज्ञा पाते ही सब सेनाएँ लड़ाई के लिए सन्नद्ध होगईं। जिस समय राणा दिल्लीश्वर से मुक़ाबिला

करने को चलने लगे, उस समय बन्दी मालवा-सुल्तान ने भी बादशाह से लड़ने की इच्छा प्रकट की। कुम्भाजी ने सोचा कि मालवाधीश्वर इतना अधम नहीं हो सकता, कि वह हमारे उपकारों को भूल कर विश्वासघात करने लगे। यदि ऐसा हुआ भी, तो जहाँ हम इतने बड़े बादशाह की फ़ौज का मुक़ाबिला करेंगे वहाँ इससे भी निबट लेंगे। यह विचार कर राणा ने उसे भी साथ चलने की आज्ञा देदी, पर साथ ही अपने प्रधान-प्रधान सैनिकों को प्रतिक्षण मालवा-सुल्तान की गति-विधि देखते रहने के लिए सतर्क कर दिया। झूँझनूँ नामक ग्राम के समीप दिल्ली और मेवाड़ की सेनाओं में मुठभेड़ हुई। दोनों सेनाओं के सम्मुख होते ही युद्ध छिड़ गया। कुछ देर बड़ी घमासान लड़ाई हुई। यद्यपि राजपूत पूर्ण उत्साह से लड़ रहे थे, फिर भी दिल्लीश्वर की असीम सेना को वे कहाँ तक काटते। एक यवन सैनिक के मरते ही उसकी जगह दो आ खड़े होते थे। यह दशा देख राजपूत बड़े चकराए। तलवार चलाते-चलाते उनके हाथ थक गए थे, वे शिथिल होने लगे। उधर यवन सिपाही बराबर आगे बढ़े चले आरहे थे। मालवा-सुल्तान ने जब राजपूतों की यह दशा देखी तो वह अपने सिपाहियों को साथ ले आगे बढ़ा और अपने सजातीय भाइयों से घमसान युद्ध करने लगा। एक यवन को अपने लिए अपने सहधर्मियों से इस प्रकार लड़ते देख राजपूतों की हिम्मत दूनी हो गई और वे मालवा-सुल्तान के साथ-साथ जयघोष करते हुए आगे बढ़ने लगे। राणा कुम्भा भी जो अब तक अपनी सेना में घूम-घूमकर लोगों को प्रोत्साहित कर रहे थे, मालवा-सुल्तान के सहायतार्थ आ डटे। राजपूतों को इस भाँति ज़ोर बाँधते और आगे

बढ़ते देख बादशाह की फ़ौज विचलित हो उठी। उसकी हरावल टूटते ही राजपूतों ने एक धावा और मारा जिससे मुसलमानों की सम्पूर्ण सेना में खलबली मच गई। अब तो उसके पैर उखड़ गए और वह जान बचाकर दिल्ली की ओर भाग निकली। राजपूत सैनिक शत्रुओं को खदेड़ते हुए हिसार तक पहुँचे और इसी समय उन्होंने हिसार के क़िले को भी जीत कर उस पर मेवाड़ की विजय-पताका फहरा दी।

इस युद्ध से लौट कर राणा ने मालवा-सुल्तान की बड़ी प्रशंसा की तथा उसे सिरोपा आदि से पुरस्कृत कर विदा किया। इतना ही नहीं, राणा ने मालवा-राज-सिंहासन पर उसका यथा पूर्व अधिकार कराने के लिए अपनी सेना भी भेज दी। इस युद्ध के बाद गुजरात और मालवा ने तो कुम्भाजी से लड़ने का फिर नाम भी न लिया। कुम्भाजी ने अपने पचास वर्ष के शासन में अनेक युद्ध किये, पर वे किसी में परास्त नहीं हुए, बल्कि सब जगह से विजय-वैजयन्ती फहराते हुए ही वापस आये। कुम्भाजी का अपने समकालीन सभी यवन शासकों से वैर और माँडूराव को छोड़ कर सब राजपूत राजाओं से मेल रहा। सर्वत्र अपना आधिपत्य स्थापित कर चुकने के पश्चात्, शान्ति के युग में भी राणा निश्चिन्त हो कर नहीं बैठे। अवकाश के समय उन्होंने अनेक दुर्ग बनवाए। कहते हैं, मेवाड़ के चौरासी क़िलों में से बत्तीस क़िले अकेले राणा कुम्भाजी के बनवाए हुए हैं।

कुम्भाजी को मकान बनवाने का बड़ा शौक़ था, उन्होंने अनेक बड़े-बड़े देव-मन्दिर भी बनवाए। आबू पर्वत पर कुम्भाजी के बनवाये 'कुम्भ-श्याम और ऋषभदेव के मन्दिर अब भी मौजूद हैं। ऋषभदेव का मन्दिर बनवाने

में तो कुम्भाजी का लगलग दस लाख रुपया व्यय हुआ था। आबू पर्वत वाले मन्दिर में कुम्भाजी और मोकलजी की पीतल की प्रतिमाएँ अब भी विद्यमान हैं। लोग उन्हें देवताओं की भाँति पूजते हैं। कुम्भाजी ने जिस प्रकार युद्धों में विजय लाभ कर अमर कीर्ति प्राप्त की उसी प्रकार मन्दिर, कुए, तालाब आदि लोकोपयोगी स्थान बनवा कर भी अक्षय पुण्य कमाया।

कुम्भाजी शूरवीर होने के साथ ही वास्तुकला-विशेषज्ञ भी थे, उनके बनवाए सभी स्थानों में कला को प्रधानता दी गई है। उनकी चित्रकारी और खुदाई के काम आजभी अपनी अपूर्व शोभा दिखा रहे हैं। कुम्भाजी संस्कृत के विद्वान् और कवि भी थे, उनकी रची 'गीतगोविन्द' की टीका का विद्वानों में बड़ा मान है। कुम्भाजी ने पचास साल राज्य किया, और यदि उनके पुत्र उदयसिंह ने उन्हें विष खिलाकर न मार डाला होता, तो सम्भव है, वे बहुत दिन जीवित रहते और उनके द्वारा देश का बहुत हित साधन होता।

महाराणा प्रताप

अपने पिता उदयसिंह के स्वर्गारोहण के पश्चात् परम प्रतापी महाराणा प्रतापसिंह मेवाड़ के राज-सिंहासन पर आसीन हुए। उस समय देश और विशेषकर राजपूताने की बड़ी शोचनीय दशा थी। सर्वत्र मुग़लों की तूती बोल रही थी, सम्राट् अकबर की मीठी नीति पर मुग्ध होकर अनेक हिन्दू नरेश उसकी वश-वर्तिता स्वीकार करते जाते थे। कितने ही राजाओं ने तो अकबर को अपनी कन्याएँ सौंप देने में भी कोई हानि न समझी। महाराणा प्रताप यह सब देखते-सुनते परन्तु खून का-सा घूँट पीकर रह जाते। आह! वीर-भूमि राजस्थान की ऐसी दुर्दशा! आर्य नरेशों की इतनी गिरावट!! शोक! महाशोक! अगर यह प्रतिकूल प्रवृत्ति और अधिक बढ़ी तो संसार से हिन्दू जाति का लोप हो जायगा और स्वतन्त्रता अथवा देश-प्रेम का नाम भी सुनाई न देगा। यह विचार कर, सबसे प्रथम प्रताप ने चित्तौड़-उद्धार की प्रतिज्ञा की और निश्चय कर लिया कि, जब तक मैं बाप्पा रावल की राजधानी चित्तौड़ को यवनों के चंगुल से न छुड़ा लूँ, तब तक महलों में न रहूँगा, थालों में न खाऊँगा और बिछौने पर न सोऊँगा। क्या स्वतन्त्रता और स्वजाति-रक्षा के लिए इतना कष्ट सहना अनुचित है। इस प्रश्न का उत्तर प्रताप के अन्तरात्मा ने दिया—'कदापि नहीं।' स्वाधीनता तो बड़े तप से प्राप्त होती है, जातीय गौरव-रक्षा के लिए भयङ्कर-से-भयङ्कर कष्टों का सहर्ष स्वागत करना एक वीर-विजयी के लिए परमावश्यक ही नहीं अनिवार्य है। इस प्रकार प्रतापसिंह को प्रबोध हुआ

महाराणा प्रताप
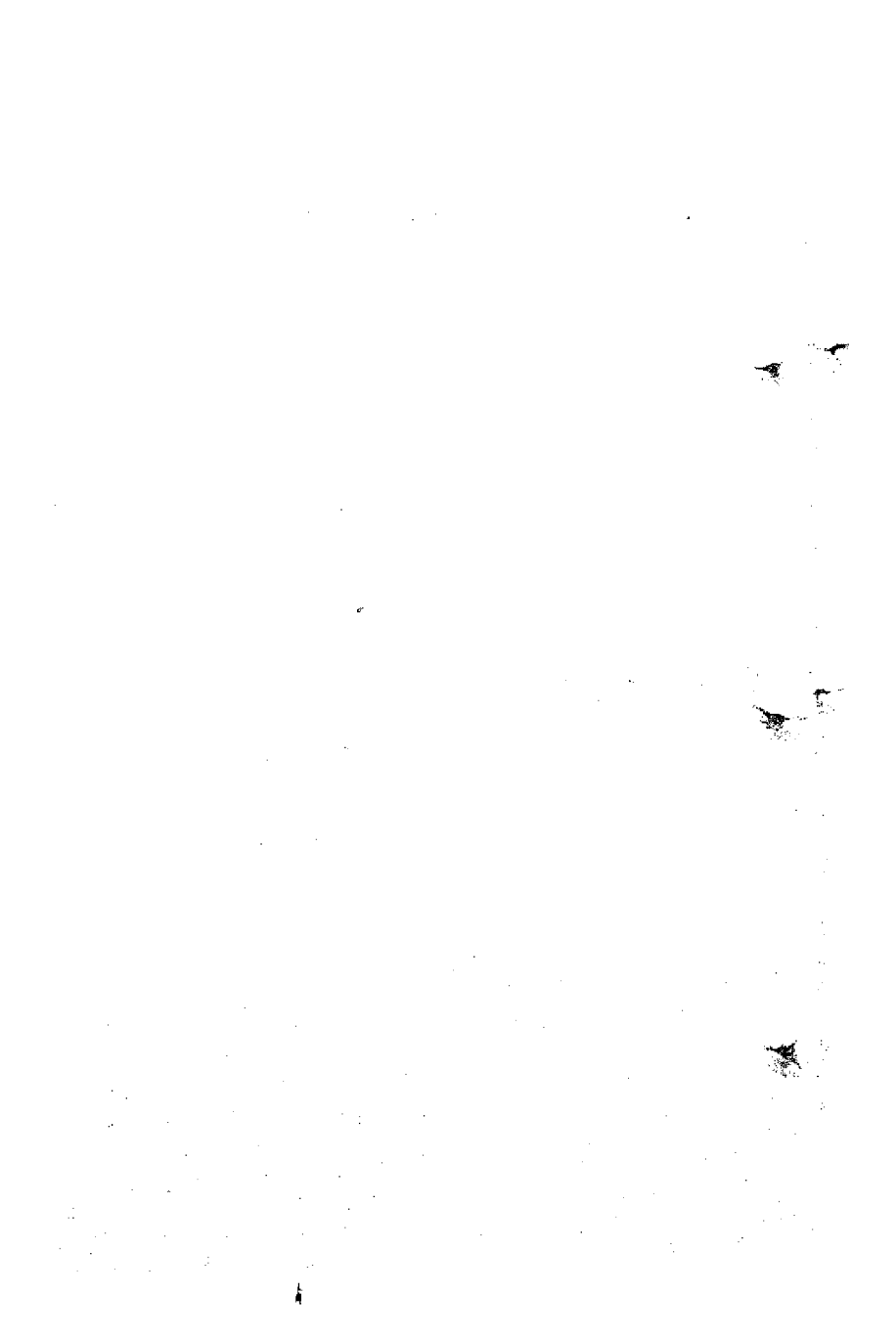
और वह अपने उद्देश्य-पालन में संलग्न हो गये। उन्होंने कहा अब आपत्तियों के विशाल पर्वत भी मार्ग में आकर मुझे मेरे कर्त्तव्य-पथ से विचलित नहीं कर सकते। विपत्तियों का वज्र-पात भी मुझे अब ध्रुव-धर्म-धारा में स्नान करने से नहीं रोक सकता। अब तो मैं चित्तौड़ पर विजयी होकर ही रहूँगा अथवा यह नश्वर शरीर रण-यज्ञ में आहुति बन कर सदा-सर्वदा के लिए विलीन हो जायगा।

धीरे-धीरे प्रताप की स्वदेश-प्रेम-पूर्ण निर्भय भावनाओं का समाचार अकबर को भी ज्ञात हुआ। उसने आश्चर्य से सुना कि मेवाड़ का युवक शासक अपने अनुचित आवेश और मिथ्या गौरव के आगे मुग़लों की महती सत्ता की कुछ भी परवा नहीं करता। वह उसे ठुकराने के लिए तय्यार है। अच्छा, इस घमण्डी का भी मान-मर्दन करने के लिए कोई सफल साधन काम में लाना चाहिए। बड़े सोच-विचार के बाद अकबर ने अपने अभिन्न मित्र राजा मानसिंह को प्रताप के पास भेजा और अच्छी तरह समझा दिया कि उस अनुभव-हीन राजपूत को ऊँच-नीच समझा कर कहदो कि वह अधिक उच्छृंखलता से काम न ले, अन्यथा उसकी सारी साहसिकता मिट्टी में मिला दी जायगी।

शोलापुर की लड़ाई से लौटते हुए राजा मानसिंह मार्ग में महाराणा प्रताप से मिलने मेवाड़ आये, परन्तु प्रताप अच्छी तरह जानते थे कि, जिस राजपूत ने अपनी पुत्री अकबर को सौंप कर उसकी प्रसन्नता प्राप्त की है, वह कहाँ तक आदर का अधिकारी हो सकता है! अस्तु, राजा मानसिंह उदयपुर के समीप देवारी नामक स्थान के महलों में ठहराये गये और उनका स्वागत-सत्कार बड़े समारोह पूर्वक किया गया।

प्रताप से बातचीत होने पर मानसिंह ने कहा—"देखो प्रताप, इस मिथ्या अभिमान में कुछ नहीं रक्खा, आज सम्राट् अकबर की विजय-वैजयन्ती सारे देश में फहरा रही है, सब हिन्दू नरेश उसकी अधीनता स्वीकार कर चुके हैं। जिन्होंने ऐसा नहीं किया वह करने को तैयार हैं। समझ में नहीं आता तुमने इस झूठी अकड़ में क्या लाभ सोच रक्खा है! प्रताप, क्या तुम अकबर से विमुख होकर वीर-विजयी समझे जाओगे अथवा अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता प्राप्त कर लोगे? अगर ऐसी तुम्हारी धारणा है तो उसे आत्म-प्रवंचना समझ कर तुरन्त अकबर की अधीनता स्वीकार कर लो। नहीं तो जानते हो, इसका परिणाम क्या होगा।"

मानसिंह की ऐसी बातें सुनते ही प्रताप के शरीर में आग लग गई, उसका मुख-मण्डल प्रचण्ड-मार्तण्ड की तरह लाल हो उठा और वह निर्भय सिंह की तरह दहाड़ता हुआ बोला—"हाँ, मानसिंह, मैं अकबर की अधीनता स्वीकार न करने का परिणाम जानता हूँ, और उस परिणाम को भले प्रकार सोच-विचार कर ही मैं इस स्वाधीनता-संग्राम में प्रवृत्त हुआ हूँ। जाओ, तुम उस मुग़ल-सम्राट् से साफ़-साफ़ कह देना कि प्रताप के कंठ में जब तक प्राण हैं तब तक, वह उसकी वशवर्तिता स्वीकार न करेगा। प्रताप—बाप्पा रावल का वंशधर प्रताप—अपना जातीय गौरव नष्ट कर किसी के साथ सन्धि करने को स्वप्न में भी तैयार नहीं है। मानसिंह, तुम नहीं जानते, मुझे उद्देश्य-पूर्ति के लिए विजन वन में भटकना मंजूर है, कन्दराओं में रहकर जीवन व्यतीत करना स्वीकार है, मैं अन्न-जल बिना प्राण त्याग देने को उद्यत हूँ, परन्तु अकबर की अधीनता, किसी दशा

मैं भी, सहन नहीं कर सकता। मानसिंह, सोचो, जो मस्तक परमात्मा के सिवा किसी के आगे झुकने वाला नहीं, उसे तुम यवन-सम्राट् के सामने नवाने की शिक्षा देने आये हो! याद रक्खो, मैं उन राजपूतों में नहीं हूँ, जो अपनी कुल-मर्यादा मेटकर, सुख-समृद्धि प्राप्त करने का स्वप्न देखा करते हैं। मैं किसी की दया पर जीना नहीं चाहता। मुझे तो उस जग-नियन्ता जगदीश के असीम अनुग्रह का ही भारी भरोसा है।

महाराणा ने राजा मानसिंह का आतिथ्य करने में कोई कमी नहीं की, परन्तु भोजन के समय स्वयम् मानसिंह के पास न जाकर उन्होंने अपने पुत्र अमरसिंह को भेज दिया। मानसिंह ताड़ गया कि महाराणा ने सम्राट् अकबर का सम्बन्धी होने के कारण मेरे साथ भोजन करना पसन्द नहीं किया। नहीं तो ऐसी क्या बात थी जो वह अपने माननीय मेहमान के साथ खाना खाने के लिए न आता। महाराणा की खरी बातें सुनकर एक तो पहले ही मानसिंह निराश होचुके थे अब इस भोजन सम्बन्धी अपमान ने तो उन्हें बहुत ही क्षुब्ध कर दिया। इस व्यवहार को उन्होंने अत्यन्त अपमानजनक समझा और वे इसका बदला लेने की चिन्ता करने लगे।

मानसिंह अपना-सा मुँह लेकर मेवाड़ से चल दिये और देहली पहुँच कर सम्राट् को सारी कथा कह सुनाई। साथ ही यह भी कहा कि प्रताप के दुर्व्यवहार से मेरा घोर अपमान हुआ है, अगर उसे उसके इस अनौचित्य के लिए उचित दण्ड न दिया गया तो न जाने, वह अपने को क्या समझने लगेगा। अकबर तो किसी-न-किसी बहाने प्रताप से लोहा लेना चाहता ही था। उसे यह अच्छा अवसर मिल गया,

अतएव उसने तुरन्त आज्ञा देदी कि प्रताप पर फ़ौरन चढ़ाई की जाय और उसे पराजित कर मेवाड़ पर शीघ्र अपना अधिकार जमाया जाय।

अकबर ने अपने पुत्र युवराज सलीम की अध्यक्षता में, मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए एक बहुत बड़ी सेना भेजी साथ में मानसिंह भी मौजूद थे। इस समय मानसिंह के हर्ष का ठिकाना न था, वह मन-ही-मन कह रहे थे, अहा! अब उस पहाड़ी चूहे को अपने दुरभिमान का कैसा कडुआ फल चखना पड़ेगा, उसने समझा क्या! वह है क्या चीज़! जिस मानसिंह के सहायक स्वयं दिल्लीश्वर अकबर हों उसके कोमल हृदय को इस प्रकार तीखे बाणों से बींधना! और फिर अपने घर पर!! हाँ ठीक है, इन सब बातों का परिणाम अब वह अपनी आँखों से देख लेगा और यह भी जान लेगा कि किसी प्रतिष्ठित अतिथि के अनादर करने का क्या नतीजा होता है!

उधर तो दिल्ली से यवन-सेना बढ़ी आ रही थी और इधर महाराणा प्रताप भी बड़ी सावधानी से काम ले रहे थे। वे अच्छी तरह समझते थे कि मानसिंह से कही हुई खरी-खरी बातें अपना रंग लाए बिना न रहेंगी, अतएव उन्होंने भी राजपूतों को सुसंगठित करने का कार्य शुरू कर दिया था। एक दिन प्रताप ने अपने सब सर्दारों को एकत्र कर बड़े मर्मस्पर्शी शब्दों में अपील की—"बहादुरो, मुग़ल सेना शीघ्र ही मेवाड़ पर चढ़ाई करने वाली है, तुम लोगों को उसका वीरतापूर्वक सामना करने के लिए बद्ध-परिकर हो जाना चाहिए। मुझे आशा ही नहीं, पूरा विश्वास है कि मेवाड़ का प्रत्येक योद्धा, प्राण रहते हुए, मुग़लों का

मान-मर्दन करने के लिए प्रत्येक प्रकार से तैयार रहेगा और जिस प्रकार सम्भव होगा जननी-जन्मभूमि की रक्षा करेगा।"

महाराणा के थोड़े-से शब्दों ने सामन्तों के हृदयों में उत्साह की आग लगा दी। उन्होंने एकलिंग भगवान् और महाराणा प्रताप की जय बोलते हुए बड़े ओजस्वी शब्दों में विश्वास दिलाया कि, जब तक हम लोगों के कंठों में श्वासों का आवागमन है तब तक संसार की कोई भी शक्ति हमें अपने कर्त्तव्य-पालन से पराङ्मुख नहीं कर सकती। मातृ-भूमि मेवाड़ की रक्षा करते हुए, हम समराङ्गण में सोना तो पसन्द करेंगे, पर मैदान से पीठ दिखाकर, अपने पवित्र जातीय गौरव पर कलङ्क-कालिमा कदापि न लगने देंगे। महाराणा प्रताप अपने सर्दारों के वीरतापूर्ण तथा उत्साह-वर्द्धक शब्द सुन कर बड़े सन्तुष्ट हुए और उन्होंने मुग़लों से मुठ-भेड़ करने के लिए पूरी तैयारी प्रारम्भ करदी। सबसे प्रथम प्रताप ने आज्ञा दी कि सब लोग उदयपुर छोड़ कर समीपवर्ती जंगलों में जा बसें और सारे काम-काज बन्द करदें; कहीं किसी प्रकार का व्यौपार न किया जाय और न आमोद-प्रमोद सम्बन्धी कोई कार्य हो। उदयपुर की ऐसी व्यवस्था करने से, प्रताप का यह प्रयोजन था कि अगर शत्रु ने मेवाड़ पर विजय प्राप्त कर ली तो वह उदयपुर में लूट-मार आरम्भ कर देगा, जिससे प्रजा को बड़ा कष्ट होगा। पहले से ही उदयपुर वीरान कर देने से मुग़लों के लिए वहाँ कोई आकर्षण न रहेगा और वे उसे एक खँडहर समझ कर वापस चले जायँगे।

धीरे-धीरे मुग़ल-सेना मेवाड़ के समीप पहुँच गई, उधर राजपूत भी मातृभूमि पर प्राण निछावर करने के लिए एकत्र हो गये। एक ओर असंख्य सेना का भयङ्कर समुद्र उमड़

रहा था, दूसरी तरफ़ कुछ वीर राजपूत योद्धा हल्दीघाटी पर अपने प्राणों को हथेली पर रखे शत्रुओं का रुधिर पीने के लिए तृषातुर हो रहे थे। महाराणा प्रताप के उत्साह और आवेश का ठिकाना न था। वे अपने सुप्रसिद्ध चेतक (घोड़े) पर चढ़ बिजली की तरह कभी इधर चमकते और कभी उधर कौंधते थे। देखते ही देखते हल्दीघाटी के संकुचित मार्ग में घोर घमसान युद्ध छिड़ गया। राजपूत वीर मुग़ल-दल पर भूखे सिंह के समान टूट पड़े। जिधर एक भी सामन्त अपनी तेज़ तलवार चमचमाता हुआ निकल जाता, उधर ही यवनों के मुण्डों का बिछौना-सा बिछ जाता था। शत्रुओं में बुरी तरह भगदड़ मची हुई थी। वे बड़े साहस-पूर्वक राजपूतों की ओर बढ़ते, परन्तु उनका प्रबल पराक्रम देख भीरुता से तुरन्त पीछे हट जाते थे। मुट्ठी-भर वीरों ने मुग़ल-सेना का नाक में दम कर रखा था। प्रताप की आँखें मानसिंह को खोज रही थीं—उस क्षत्रिय नामधारी की तलाश में थीं, जिसने अपनी कुटिल करतूत से यह रण-रंग रचा था। इतने ही में हाथी के हौदे पर बैठे सलीम को देख कर प्रताप की आँखों में ख़ून उतर आया और उसे अपने मुक़ाबले में देख उससे न रहा गया। राणा की एक ही एड़ में, चेतक सलीम के हाथी के पास जा पहुँचा और उसने अपने दोनों अगले पाँव, गजराज के विशाल मस्तक पर अड़ा दिये! प्रताप ने सलीम पर ज्यों ही प्रहार किया त्यों ही मुग़लों का झुण्ड उसके समीप पहुँच गया। इस उद्योग में हाथीवान मारा गया और सलीम भय से मूर्च्छित होकर हौदे में गिर गया। घायल हाथी चिंघाड़ता हुआ भाग निकला और युद्धभूमि से बहुत दूर जाकर उसने दम लिया।

इस समय महाराणा को मुग़ल-सेना ने बुरी तरह घेर लिया, उन पर चारों ओर से प्रबल प्रहार होने लगे। परन्तु सबका सामना अकेला प्रताप बड़ी बहादुरी से करता रहा। एक ओर प्रतापी प्रताप और दूसरी ओर सारा मुग़लदल। कितना विषम वैषम्य और कैसा असमान संघर्ष था। परन्तु प्रतिकूल परिस्थिति में पड़कर घबराना और डरना तो प्रताप ने कभी सीखा ही न था। वह तो अपने बाहुबल से बहुसंख्यक शत्रुओं का संहार करने वाला अजेय योद्धा था। जब अकेले प्रताप को इतनी बड़ी सेना से लड़ते-लड़ते बहुत देर हो गई, तो अचानक वीरवर झाला की दृष्टि उस पर पड़ी। झाला ने देखा कि सैकड़ों शत्रुओं का सामना करने वाले प्रतापी प्रताप का जीवन अब निरापद नहीं है। इस समय महाराणा इतने घिर गये हैं कि उनके लिए एकाएकी प्राण बचा सकना कठिन है। अगर इस तुमुल युद्ध में मेवाड-मार्त्तण्ड अस्त हो गया तो बड़ा अनर्थ हो जायगा और फिर स्वतन्त्रता की लड़ाई में आगे बढ़कर लड़नेवाला कोई महारथी न रहेगा। यह सोचकर वीरवर झाला मुग़ल-सेना को चीरता-फाड़ता प्रताप के पास पहुँचा और चट उसका राजमुकुट तथा छत्र धारण कर स्वयं मुग़लों से टक्कर लेने लगा। प्रताप को इस प्रकार युद्ध-भूमि से हटना पसन्द न था, परन्तु झाला के बहुत समझाने-बुझाने पर वह वहाँ से चले गये। मुग़ल-सेना झाला को ही महाराणा प्रताप समझ कर लड़ती रही। झाला ने भी प्रताप की भाँति ही अपने प्रशंसनीय पराक्रम का प्रशस्त परिचय दिया, परन्तु इतनी बड़ी सेना का सामना करना बड़ा कठिन काम था, अन्त में झाला को वीरगति प्राप्त करनी पड़ी।

हल्दीघाटी की भयङ्कर लड़ाई में सहस्रों राजपूत अपने अमूल्य शरीरों की अन्तिम आहुति देकर भी विजय-श्री के दिव्य दर्शन न कर सके। इस समय महाराणा अपनी बची-खुची सेना लेकर अरावली पर्वत की ओर चले गये और वहीं रह कर वीरता-पूर्वक मुग़लों से लोहा लेते रहे, परन्तु उन्होंने उनकी अधीनता स्वप्न में भी स्वीकार न की। यह भी कहा जाता है कि, इस समय सारे मेवाड़ पर मुग़लों का शासन हो गया था और महाराणा अपने कुटुम्बियों सहित इधर-उधर भटकते-फिरते थे। बड़ी-बड़ी मुसीबतें सामने आईं, परन्तु राणा ने दैन्य भाव कभी मन में न आने दिया।

हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात् महाराणा प्रताप को मुग़लों से और भी अनेक बार लड़ाई लड़नी पड़ी। उस समय उनका निवास पहाड़ों की कन्दराओं और फूँस की झोंपड़ियों में होता था। प्रताप तथा उनके सामन्त स्वतन्त्रता के नाम पर सर्वस्व निछावर कर देना एक साधारण-सी बात समझते थे। वे निराशा-निशाचरी का नाम भी न जानते थे, उनके वीरतापूर्ण हृदयों में सदैव आशा-ज्योति ही जगमगाती रहती थी। कभी-कभी तो प्रताप को अन्न के अभाव में, कई-कई दिनों, भूखे रह कर बिताने पड़े थे। वन के फल-फूल खाकर रह जाना तो उनके लिए, एक साधारण-सी बात थी। कभी-कभी तो इनका भी अभाव हो जाता था। परन्तु कोई चिन्ता नहीं! वही हर्ष, वही मुस्कराहट और वही स्वतन्त्रता पर मर मिटने की चाह!! प्रताप ने संकटों का सहर्ष स्वागत करने में कमाल कर दिया था। उनकी प्रबल प्रतिज्ञा थी कि कुछ भी क्यों न हो, मेवाड़ मुग़लों के अधिकार में न जाने पावे! उसकी स्वतन्त्रता सदैव अक्षुण्ण बनी रहे। प्रताप के हृदय में

स्वतन्त्रता के महत्त्व के आगे शारीरिक कष्ट नगण्य और तुच्छ थे। वे जननी-जन्मभूमि के लिए शरीर को बलिवेदी पर चढ़ाना अपना परम सौभाग्य समझते थे।

एक दिन तो बड़ा ही करुण दृश्य दिखाई दिया, उसकी स्मृति-मात्र से भी रोमाञ्च हो आते हैं। पहाड़ी पर प्रताप का पड़ाव पड़ा था, महारानी ने पत्थरों से कुचल कर घास-पात की रोटी तैयार की, और उसे कई दिनों से बिलखती हुई अपनी क्षुधातुर पुत्री को दिया। पुत्री ने ज्योंही रोटी लेने के लिए हाथ बढ़ाया, त्योंही एक बन-बिलाव उसे छीन कर ले गया! बेचारी राजकुमारी देखती रह गई और भूख से व्याकुल हो फूट-फूट कर रोने लगी। इस समय सामने ही शिला पर बैठे महाराणा प्रताप किसी गम्भीर प्रश्न पर विचार कर रहे थे—स्वतन्त्रता-प्राप्ति और मेवाड़-रक्षा के उपाय सोच रहे थे। परन्तु उनकी आँखें उस करुण दृश्य की ओर थीं। वे अपनी प्यारी पुत्री को भूख से बिलखती देख अधीर हो उठे और अकबर के पास सन्धि-संदेश भेजने का विचार करने लगे। जिस महावीर का विशाल हृदय शत्रुओं के खड्गों और बड़े-बड़े विपत्ति-वज्रपातों से विचलित न हुआ था उसे एक साधारण-सी पारिवारिक घटना ने द्रवीभूत कर दिया। परन्तु यह अधीरता बहुत देर तक न रही। महारानी ने बड़े साहस से कहा—"प्राणनाथ! यह आप क्या सोच रहे हैं। क्या हम लोगों की ऐसी दशा देख कर कर्त्तव्य-पथ से पतित हो जाना आपको शोभा देता है! जिस पराक्रमी ने अपनी इच्छाओं से आपत्तियों को आमन्त्रित किया हो, जिसने स्वतन्त्रता के यज्ञ में अपने प्राणों की भी आहुति देने का निश्चय कर लिया हो, क्या उसे ऐसी छोटी-छोटी

घटनाओं से इस तरह व्याकुल होना चाहिए। क्या आप हम लोगों के कारण अपने आदर्श से गिरना चाहते हैं। सावधान! आर्यपुत्र, सावधान! आपकी देश-सेवा में हमारा भी कुछ भाग है। क्या आपके कष्टों में हमें शामिल न होना चाहिए। नाथ! आप सन्धि का विचार त्याग दें और अपनी उसी शान के साथ मैदान में डटे रहें। इस अवसर पर किसी राजपूत सर्दार ने भी राणा को एक पत्र लिखा था कि यदि अन्य सांसारिक जीवों की तरह प्रताप भी मानव हृदय की दुर्बलताओं का शिकार बन जायगा तो हिन्दू जाति किस पर अभिमान करेगी।

महाराणा प्रताप में सब से बड़ी विशेषता यह थी कि वह सदैव धर्मयुद्ध के लिए अपनी तलवार म्यान से निकालते थे। अधर्म या अन्याय का आदर करना उन्हें कभी अभीष्ट न था। एक बार राजकुमार अमरसिंह मुग़ल-सेना पर आक्रमण कर, किसी मुसलमान सर्दार की बेगमों को पकड़ लाये, ज्योंही यह बात महाराणा ने सुनी, त्योंही उन्होंने अमरसिंह को बुला कर कहा—"अमर! तुमने स्त्रियों पर हाथ डालने की शिक्षा कहाँ से ली? क्या ऐसी निन्दनीय नीति से तुम वीर कहे जा सकते हो? क्या इस प्रकार का नीचता पूर्ण व्यवहार किसी वीर राजपूत के लिए सराहनीय हो सकता है। इन स्त्रियों को लाकर तुमने घोर घृणित कार्य किया है, जाओ, अभी उन्हें उनके कुटुम्बियों के पास पहुँचाओ और किसी को किसी तरह का कष्ट न होने दो।" एक ओर महाराणा प्रताप का यह उज्ज्वल आदर्श है और दूसरी ओर वे विधर्मी लोग हैं जिनकी अधम पाप-वासना राजपूतनियों के सौन्दर्य-पाश में फँस कर भयङ्कर अनर्थ कराती रहती थी। सचमुच दोनों की मनोवृत्तियों में बहुत बड़ा अन्तर है।

महाराणा प्रताप बीस वर्षों तक बराबर पहाड़ियों पर-से लड़ते रहे। मुग़ल-सम्राट् अकबर ने भिन्न-भिन्न सेना-नायकों की अध्यक्षता में बड़ी-बड़ी सेनाएँ भेजीं परन्तु प्रताप ने सबका साहस पूर्वक सामना किया। अन्त में एक बार स्वयम् अकबर मेवाड़ पर चढ़ कर आया, परन्तु उसकी भी वही गति हुई जो उससे पूर्व लड़ने वाले मुग़ल-योद्धाओं की होचुकी थी। अर्थात् सम्राट् अकबर भी मेवाड़ी राजपूतों से त्रस्त होकर उल्टे पाँव देहली लौट गये। प्रताप ने अवसर पाकर भामाशाह की आर्थिक सहायता से राजपूत-सेना का एक बार फिर सुदृढ़ संगठन किया और बड़े-बड़े रणबाँकुरे उसमें सम्मिलित किये। इस सैन्य-संघटन का उद्देश्य मेवाड़ के खोये हुए भूमि-भाग को शत्रुओं के अधिकार से पुनः प्राप्त करना था। इसमें उन्हें सफलता भी मिली। उन्होंने मालवा और जयपुर में भी शत्रु-सेना पर आक्रमण कर उसके दाँत खट्टे किये। महाराणा की सारी सफलता का कारण उनकी अखण्ड स्वदेश-भक्ति और अनुपम स्वातन्त्र्य-प्रियता थी। सौभाग्य से उन्हें साथी भी ऐसे ही मिल गये थे जो जननी-जन्म-भूमि के लिए प्राणों की भेंट चढ़ाने में अपना परम गौरव समझते थे। उन्हें उनके कर्त्तव्य-पथ से न तो अकबर की कूट-नीति विचलित कर सकती थी और न कोई बड़े से बड़ा प्रलोभन उन्हें अपनी ओर खींच सकता था। जिस स्वार्थ-पाश में फँसने से राजस्थान के अन्य अनेक नरेश न बच सके उसका फन्दा मेवाड़ के राजपूतों से सदा दूर रहा। यही सीसौदिया वीरों की सफलता का गूढ़ रहस्य है।

काल बड़ा बली है, उसके चंगुल से कोई नहीं बच सकता। बड़े-बड़े विद्वान् और उद्भट योद्धा, राजा और रंक

घटनाओं से इस तरह व्याकुल होना चाहिए। क्या आप हम लोगों के कारण अपने आदर्श से गिरना चाहते हैं। सावधान! आर्यपुत्र, सावधान! आपकी देश-सेवा में हमारा भी कुछ भाग है। क्या आपके कष्टों में हमें शामिल न होना चाहिए। नाथ! आप सन्धि का विचार त्याग दें और अपनी उसी शान के साथ मैदान में डटे रहें। इस अवसर पर किसी राजपूत सर्दार ने भी राणा को एक पत्र लिखा था कि यदि अन्य सांसारिक जीवों की तरह प्रताप भी मानव हृदय की दुर्बलताओं का शिकार बन जायगा तो हिन्दू जाति किस पर अभिमान करेगी।

महाराणा प्रताप में सब से बड़ी विशेषता यह थी कि वह सदैव धर्मयुद्ध के लिए अपनी तलवार म्यान से निकालते थे। अधर्म या अन्याय का आदर करना उन्हें कभी अभीष्ट न था। एक बार राजकुमार अमरसिंह मुग़ल-सेना पर आक्रमण कर, किसी मुसलमान सर्दार की बेगमों को पकड़ लाये, ज्योंही यह बात महाराणा ने सुनी, त्योंही उन्होंने अमरसिंह को बुला कर कहा—"अमर! तुमने स्त्रियों पर हाथ डालने की शिक्षा कहाँ से ली? क्या ऐसी निन्दनीय नीति से तुम वीर कहे जा सकते हो? क्या इस प्रकार का नीचता पूर्ण व्यवहार किसी वीर राजपूत के लिए सराहनीय हो सकता है। इन स्त्रियों को लाकर तुमने घोर घृणित कार्य किया है, जाओ, अभी उन्हें उनके कुटुम्बियों के पास पहुँचाओ और किसी को किसी तरह का कष्ट न होने दो।" एक ओर महाराणा प्रताप का यह उज्ज्वल आदर्श है और दूसरी ओर वे विधर्मी लोग हैं जिनकी अधम पाप-वासना राजपूतनियों के सौन्दर्य-पाश में फँस कर भयङ्कर अनर्थ कराती रहती थी। सचमुच दोनों की मनोवृत्तियों में बहुत बड़ा अन्तर है।

महाराणा प्रताप बीस वर्षों तक बराबर पहाड़ियों पर से लड़ते रहे । मुग़ल-सम्राट् अकबर ने भिन्न-भिन्न सेना-नायकों की अध्यक्षता में बड़ी-बड़ी सेनाएँ भेजीं परन्तु प्रताप ने सबका साहस पूर्वक सामना किया। अन्त में एक बार स्वयम् अकबर मेवाड़ पर चढ़ कर आया, परन्तु उसकी भी वही गति हुई जो उससे पूर्व लड़ने वाले मुग़ल-योद्धाओं की होचुकी थी। अर्थात् सम्राट् अकबर भी मेवाड़ी राजपूतों से त्रस्त होकर उल्टे पाँव देहली लौट गये। प्रताप ने अवसर पाकर भामाशाह की आर्थिक सहायता से राजपूत-सेना का एक बार फिर सुदृढ़ संगठन किया और बड़े-बड़े रणबाँकुरे उसमें सम्मिलित किये। इस सैन्य-संघटन का उद्देश्य मेवाड़ के खोये हुए भूमि-भाग को शत्रुओं के अधिकार से पुनः प्राप्त करना था। इसमें उन्हें सफलता भी मिली। उन्होंने मालवा और जयपुर में भी शत्रु-सेना पर आक्रमण कर उसके दाँत खट्टे किये। महाराणा की सारी सफलता का कारण उनकी अखण्ड स्वदेश-भक्ति और अनुपम स्वातन्त्र्य-प्रियता थी। सौभाग्य से उन्हें साथी भी ऐसे ही मिल गये थे जो जननी-जन्म-भूमि के लिए प्राणों की भेंट चढ़ाने में अपना परम गौरव समझते थे। उन्हें उनके कर्त्तव्य-पथ से न तो अकबर की कूट-नीति विचलित कर सकती थी और न कोई बड़े से बड़ा प्रलोभन उन्हें अपनी ओर खींच सकता था। जिस स्वार्थ-पाश में फँसने से राजस्थान के अन्य अनेक नरेश न बच सके उसका फन्दा मेवाड़ के राजपूतों से सदा दूर रहा। यही सीसौदिया वीरों की सफलता का गूढ़ रहस्य है।

काल बड़ा बली है, उसके चंगुल से कोई नहीं बच सकता। बड़े-बड़े विद्वान् और उद्भट योद्धा, राजा और रंक

सबको ही काल का कलेवा बनना पड़ा है। अपने एक ही प्रहार द्वारा सैकड़ों शत्रुओं को मृत्यु-मुख में पहुँचाने वाले महाराणा प्रताप के सामने भी अन्त को कराल काल का अकाण्ड ताण्डव होता है। यह महावीर भी एक झोंपड़ी में पड़ा अपनी ऐहिक लीला समाप्त कर परलोक-यात्रा की तैयारी कर रहा है। महाराणा मृत्यु-शय्या पर पड़े हैं और उनके मुख-मण्डल पर उदासीनता का आधिपत्य दिखाई देता है। यह उदासीनता मृत्यु की विभीषिका की ओर संकेत नहीं करती और न इससे किसी पराजय का भाव प्रकट होता है। उसमें न दैन्य की दुर्गन्ध है और न निराशा की निशानी। फिर इस नृसिंह का प्रसन्न वदन, जो बड़े-से-बड़े संकट में भी न मुरझाता था, अब अन्तिम समय में क्यों मलिन दिखाई देता है। समीप बैठे हुए सब सर्दारों ने महाराणा से इस चिन्ता का कारण जानने की इच्छा प्रकट की तथा बड़े विनीत भाव से पूछा—"आज श्रीमान् ऐसे व्याकुल और उदासीन क्यों दिखाई देते हैं?"

महाराणा ने गम्भीरता पूर्वक बड़ी धीमी वाणी से कहा—"भाइयो, मेरी उदासीनता का कारण मृत्यु-वेदना नहीं है और न सांसारिक मोहमाया मुझे व्यथित कर रही है, इस समय मुझे केवल एक चिन्ता है, और उसी के कारण मैं इतना बेचैन हूँ। यह चिन्ता और कुछ नहीं केवल मेवाड़ उद्धार की चिन्ता है। युवराज अमरसिंह की विलास-प्रियता इस समय मेरी व्याकुलता का कारण बन रही है। मेरा अनुमान ही नहीं, विश्वास है कि मेरे पीछे स्वतन्त्रता-संग्राम समाप्त होजायगा। अमरसिंह अपने भोग-विलास में व्यस्त रहकर सारे मेवाड़ पर विपत्ति-वज्र गिराने का कारण बनेगा। सर्दारो, जिस स्थान में

मैं आज आपके देखते-देखते मृत्यु-मुख में जारहा हूँ, थोड़े दिनों बाद यह एक विशाल राज-भवन में परिणत दिखाई देगा। अमरसिंह की विलास-प्रियता उसे मेवाड़-उद्धार के साधन सोचने का समय ही न देगी। जिस मेवाड़ के लिए मैंने अब तक अपना जीवन लगाया और असंख्य वीरों का रक्तपात किया-कराया है, आज उसे ऐसे अयोग्य हाथों में छोड़ते हुए मुझे बड़ा क्लेश हो रहा है।" यह कहते-कहते महाराणा का कंठ रुँध गया और वे आगे कुछ न कह सके।

मृत्यु-मुख महाराणा प्रताप के ऐसे वचन सुन सर्दारों का कलेजा काँप उठा। उनके दिल दहला गये, और वे अपने अधिनायक की अन्तिम यन्त्रणा का वास्तविक कारण जान कर बड़े विनम्र भाव से बोले—"महाराणा, आप इस बात की बिल्कुल चिन्ता न करें, हम आपको शपथपूर्वक विश्वास दिलाते हैं, कि जब तक हमारे कंठ में प्राणों का संचार है, तब तक हम मेवाड़ का महत्त्व कदापि नष्ट न होने देंगे और राज-कुमार अमरसिंह के सामने मुग़लों की अधीनता स्वीकार करने का कभी अवसर न आने देंगे। हमें अत्यन्त दुःख है कि थोड़ी ही देर में आपका भौतिक शरीर सदा-सर्वदा को विलीन हो जायगा, परन्तु महाराणा! हमें पूर्ण विश्वास है कि आपकी अमर भावना सदैव हमारा नेतृत्व करती रहेगी। जिस महती शक्ति ने अब तक मेवाड़ की स्वतन्त्रता का झण्डा नहीं झुकने दिया, वही आगे भी उसे ऊँचा उठाये रहेगी। ऐसी दशा में, आपको किसी प्रकार की व्याकुलता न होनी चाहिए।

सर्दारों के विश्वास दिलाने पर महाराणा का मुरझाया हुआ मुख-कमल एक बार फिर खिल उठा! उस पर प्रसन्नता की रेखा स्पष्ट दिखाई देने लगी! महाराणा ने अपने बुझते

हुए जीवन-प्रदीप की अन्तिम झिलमिलाहट में फिर समीप बैठे हुए सर्दारों की ओर एक बार प्रेम-पूर्ण दृष्टि से देखा और सबके देखते-देखते स्वर्गीय मुस्कराहट के साथ अपनी ऐहिक लीला समाप्त करदी !

महाराणा प्रताप स्वर्गवासी हो गये, उनका पांच भौतिक शरीर मानवीय दृष्टि से ओझल होगया, परन्तु उनकी अमर आत्मा अब भी स्वाधीनता-समर में वीरों को साहस प्रदान कर रही है, उनकी विमल कीर्ति-पताका आज भी कर्तव्यच्युत कायर और देशद्रोहियों को सावधान करने के लिए प्रकाश-स्तम्भ (लायट हाउस) का काम देरही है ।
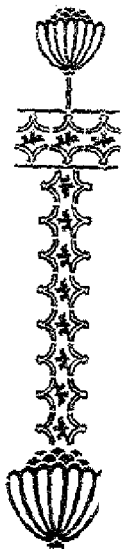
छत्रपति शिवाजी

छत्रपति शिवाजी

भारतवर्ष में छत्रपति शिवाजी का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। भारत ही क्यों वीरता के इतिहास में उनकी समता करने वाले संसार में इने-गिने ही हुए हैं। साधारण स्थिति से उठ कर कोई वीर अपने बाहु-बल द्वारा कैसे-कैसे महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकता है, इसका उदाहरण शिवाजी महाराज के ज्वलन्त जीवन से भले प्रकार मिल जाता है।

भारत में मुग़लों की तूती बोल रही थी, जिधर देखो उधर ही मुग़ल-साम्राज्य की विजय-पताका फहराती दिखाई देती थी। राजपूताने की तरह दक्षिणी भारत पर भी मुसलमान शासक अपना सिक्का जमा चुके थे। हिन्दूपन मतान्धता के भयङ्कर भूधर से टकरा कर छिन्न-भिन्न होने की तय्यारी कर रहा था, वेद-शास्त्रों के स्थान पर कुरान और कलमा का बोल बाला था, मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर मस्जिदों की सृष्टि रची जा रही थी, गोवंश के बाँ-बाँ विलाप से पाषाण-हृदय भी पिघल उठे थे, ब्राह्मणों पर किए जाने वाले अत्याचारों का ठिकाना न था, चोटी-जनेऊ की दुर्दशा देख कर आँखों से खून के आँसू बरसने लगते थे, उस समय हिन्दू जाति और हिन्दू धर्म की नैया का खिवैया परम पिता परमात्मा के अतिरिक्त कोई न था। परिस्थिति पुकार-पुकार कर कह रही थी कि यदि ऐसे समय में कोई हिन्दू हित-रक्षक निर्भय नेता प्रादुर्भूत न हुआ तो संसार में वेद-शास्त्र और चोटी-जनेऊ का चिह्न भी शेष न रहेगा।

भारत के दक्षिणी भाग में रहने वाले मराठों पर भी मुसलमानों की खूब धाक जम चुकी थी, वे मुगल शासकों की कृपा-कोर के लिये सदैव लालायित रहते थे। सभी मराठों का स्वदेश-प्रेम और धर्मभाव मुगलों की अधीनता के कारण नष्ट-प्राय: हो चुका था। वे मुगल-साम्राज्य में अपने को आदर-सत्कार का अधिकारी बना लेना ही जीवन का अन्तिम ध्येय समझते थे। मराठों को दासता में ही सुख दिखाई देता था, स्वाधीनता का तो मानो नाम ही मिट चुका था।

इसी समय महाराष्ट्रान्तर्गत, कोकण प्रदेश में, शाहजी के घर जीजी बाई के गर्भ से एक तेजस्वी बालक का जन्म हुआ जिसका नाम शिवाजी रक्खा गया। शिवाजी के पिता शाहजी पहले अहमदनगर में, और फिर बीजापुर-दरबार में उच्च पदाधिकारी थे। पूना के पास इनकी पैतृक जागीर भी थी। शिवाजी ने अपनी माता जीजी बाई, और गुरु दादाजी कौण-देव के साथ इसी जागीर में रह कर बालकपन व्यतीत किया और यहीं शिक्षा-दीक्षा भी प्राप्त की। दादा कौणदेव और माता जीजी बाई दोनों उस समय की परिस्थिति से बड़े दुखी थे, वे हृदय से चाहते थे कि किसी प्रकार देश में फिर हिन्दू धर्म की धवल ध्वजा फहराने लगे और आर्य जाति अधोगति-गर्त्त से निकलकर एक बार पुन: उन्नति के उच्च आसन पर आसीन हो। जीजी बाई ने प्रारम्भ ही से शिवाजी में स्वतन्त्रता के भाव भरने प्रारम्भ कर दिये, उधर दादा कौणदेव ने भी हिन्दू धर्मोद्धार के लिए शिवाजी को तय्यार किया। दोनों की शिक्षा ने शिवाजी के हृदय में ऐसे उदार और स्वतन्त्र भाव पैदा कर दिये, जिनकी उस समय अत्यन्त आवश्यकता थी। शिवाजी

अपने मनोभाव छिपाना न जानते थे, बल्कि वे उन्हें सब पर प्रकट कर देने में ही आनन्द अनुभव करते थे।

अपने पुत्र की ऐसी स्वतन्त्र-वृत्ति देख कर एक दिन शाहजी ने उसे समझाते हुए कहा—"पुत्र! तुम अभी अनुभव-शून्य बालक हो, तुम्हें मुग़लों की सत्ता-महत्ता का पता नहीं है। कुछ बड़े होने पर जान सकोगे कि वे कितने शक्तिशाली हैं। तुमने अपने धर्म-ग्रन्थों में पढ़ा है, राजा परमात्मा का अंश होता है, अतएव उसकी अधीनता स्वीकार करने में ही हमारी, तुम्हारी और सारे देश की भलाई है। तुम अपने मुँह से मुग़लों के विरुद्ध कभी कुछ न कहा करो। हिन्दू धर्म की जो दुर्दशा है वह किसी से छिपी नहीं है। परन्तु जब परमात्मा ही की ऐसी इच्छा है तो उसमें किसका वश चल सकता है। यही विचार कर तुम्हें भी सन्तोष करना चाहिए।"

शिवाजी ने शाहजी की सब बातें बड़े ध्यानपूर्वक सुनीं, परन्तु वह उनसे बिल्कुल सहमत न हुए और निर्भयता-पूर्वक कहने लगे—"पिताजी, मुझे सत्य कहने में किसी का भय नहीं है। जो शक्ति हमको, हमारे धर्म और हमारी जाति को नष्ट कर रही है, उसकी सत्ता स्वीकार करना या उसके गीत गाना मेरी शक्ति के बाहर है। मैं तो चाहता हूँ, यदि परमात्मा मुझे बल प्रदान करे तो मैं गौ-ब्राह्मणों की रक्षा करता हुआ, हिन्दू धर्म पर आई हुई विपत्ति-बदली को छिन्न-भिन्न करदूँ।" शिवाजी की बातें सुन शाहजी को बहुत दुःख हुआ और वह मन-ही-मन आशंका करने लगे, कि इस उद्दण्ड बालक के कारण अवश्य ही हम पर बड़ी भारी आपत्ति आए बिना न रहेगी।

शिवाजी ने अपनी माता तथा गुरुजी से धर्म-ग्रन्थों और इतिहास का अच्छा अध्ययन कर लिया, उनके हृदय में

प्राचीन भारत की गुण-गरिमा के भव्य भवों की ज्योति जगमगाने लगी। पढ़ने से अवकाश पाकर वे खेलते-कूदते और खूब कुश्तियाँ लड़ते थे। बालकों को एकत्र कर उनका नेतृत्व करना, एक दल को दूसरे पर चढ़ा लाना और विजय-पराजय के भाव दिखाना यही शिवाजी के खेल थे। बड़े होने पर भी उन्होंने यही खेल जारी रक्खे, परन्तु उस समय उन्हें वास्तविकता का रूप दे दिया। शिवाजी को गाँवों में बसने वाली मावली जाति से बड़ा प्रेम था, क्योंकि मावले लोग कट्टर देशभक्त और पक्के स्वतन्त्रता-प्रेमी थे। ये लोग अधिकतर खेती-क्यारी द्वारा ही अपना जीवन-निर्वाह किया करते थे। सब से प्रथम शिवाजी ने इन्हीं मावलों का संघटन कर, समीपवर्ती क़िलों को जीतना प्रारम्भ किया और कितने ही क़िले उन्होंने अपने अधिकार में भी कर लिए। एक दिन बीजापुर-दरबार के लिए राज-कर का बहुत-सा रुपया जा रहा था, शिवाजी को धन की आवश्यकता थी, उन्होंने वह खज़ाना लूट लिया और कल्याण पर चढ़ाई कर उसे भी अपने अधिकार में कर लिया और क़ल्याण-विजय के समय शिवाजी के सामने वहाँ के शासक की सुन्दरी पुत्री पकड़ कर लाई गई। शिवाजी को अपने साथियों के इस व्यवहार पर बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने यह कह कर उसे बीजापुर वापस भेज दिया, कि यदि मेरी माता भी इतनी ही सुन्दरी होती तो मैं भी बड़ा स्वरूपवान होता। इतना ही नहीं उस दिन से शिवाजी ने अपने सब सैनिकों को सचेत कर दिया, कि यदि आगे से कोई किसी स्त्री पर हाथ डालेगा तो उसे प्राणदण्ड की सख्त सज़ा दी जायगी।

धीरे-धीरे शिवाजी के राज-विद्रोह की सूचना बीजापुर के शासक आदिलशाह तक पहुँची। उसने यह बात बड़े आश्चर्य से सुनी, कि मुग़ल साम्राज्य उखाड़ कर, हिन्दू राज्य स्थापित करने के लिए, स्वतन्त्रता का झण्डा फहराने वाला, शाहजी का बेटा शिवाजी है !! शाहजी उस समय बीजा-पुर-दरबार में किसी बड़े पद पर प्रतिष्ठित थे। आदिल-शाह ने पुत्र के अपराध में पिता को क़ैद कर लिया और उससे कह दिया, कि अपने बेटे को समझा-बुझाकर चुप कर दो, अगर उसने अपनी अनुचित चेष्टाएँ न छोड़ीं तो तुम फाँसी के तख़्ते पर लटका दिये जाओगे। अब शाहजी बड़ी मुसीबत में फँसे, उनके दिन बुरी तरह व्यतीत होने लगे। अन्त में तंग आकर शाहजी ने सारा हाल शिवाजी को लिखा और संकट से उद्धार पाने का उपाय पूछा।

शिवाजी अपने पिता को विकट परिस्थिति में देख कर, बड़े असमंजस में पड़े। एक ओर स्वाधीनता का सवाल दूसरी तरफ़ पिता के बन्दी होने का प्रश्न ! यहाँ शिवाजी ने बड़ी चतुराई से काम लिया। उसने मुग़ल सूबेदार मुराद से सन्धि की और उसकी सहायता द्वारा अपने पिता को कारागार से मुक्त करा लिया। थोड़े दिनों तक शिवाजी को शान्त रहना पड़ा, परन्तु इस समय उन्होंने अपनी सैनिक शक्ति में यथेष्ट उन्नति करली। जब शाहजी क़ैद से छूट गये तो शिवाजी हिन्दू राज्य स्थापित करने की कामना से फिर मैदान में आ डटे और उन्होंने प्रबल पराक्रम द्वारा मुग़ल-सेना को संत्रस्त करना शुरू कर दिया। शिवाजी जिधर निकल जाते उधर ही उनका आतङ्क स्थापित हो जाता था। बहुत से शत्रु तो उनके नाम से ही भयभीत रहते थे। बीजापुर-सुलतान

आदिलशाह अपने इस युवक शत्रु के कारनामे सुनते-सुनते तंग आ गया था। उसने अनेक उद्योग किये कि किसी प्रकार शिवाजी को शान्त कर दिया जाय, परन्तु उसकी सारी नीति निरर्थक सिद्ध हुई और शिवाजी का प्रताप-मार्त्तण्ड उत्तरोत्तर देदीप्यमान होता गया।

आदिलशाह ने सब प्रयत्नों में असफल होकर अन्त में अपने परम विश्वासपात्र और अनुभवी सेनापति अफ़ज़लख़ाँ को शिवाजी से लड़ने के लिए भेजा। अफ़ज़लख़ाँ के साथ बहुत बड़ी सेना थी। शिवाजी अच्छी तरह जानते थे कि इस नयी आपत्ति पर पार पाना साधारण बात नहीं है, उनके पास अफ़ज़ल ख़ाँ से लोहा लेने के लिए न आवश्यक समर-सामग्री थी और न पर्याप्त सेना। बड़ी कठिनाई सामने आई, परन्तु शिवाजी इस समय 'किं कर्त्तव्य विमूढ़' बन कर घबराए नहीं, बल्कि प्रबल शत्रु का सामना करने की युक्ति सोचने लगे। अफ़ज़लख़ाँ ने आते ही दूत द्वारा सन्देश भेजा कि यदि शिवाजी बीजापुर की अधीनता स्वीकार कर अपनी उद्दण्डता का अन्त करदे और मेरे साथ आदिलशाह के पास चले तो उसे सारे अपराधों के लिए क्षमा मिल सकती है। इसी समय अफ़ज़लख़ाँ ने यह भी कहला भेजा कि अगर शिवाजी किसी समय उससे मिलले तो बड़ा अच्छा हो।

एक पहाड़ी स्थान पर अफ़ज़लख़ाँ और शिवाजी की भेंट होनी निश्चित हुई। शिवाजी ने मुलाक़ात के लिए जाने से पहले बड़ी चतुराई से काम लिया, उन्होंने अपनी सेना का एक बहुत बड़ा भाग पहाड़ी के समीप ही छिपा दिया और कुछ सेना बीजापुर की फ़ौज के पीछे गुप्त रूप से पड़ाव डालने को भेज दी। इसके अतिरिक्त और भी सब

यथोचित प्रबन्ध कर दिया। शिवाजी को सन्देह था कि सम्भव है, अफ़ज़लखाँ मुलाक़ात के समय मुझे क़ैद करले अथवा वहाँ मेरा वध हो जाय, इसीलिए उन्होंने यह व्यवस्था करनी उचित समझी। निश्चित समय पर दोनों सेनापति निर्दिष्ट पहाड़ी पर पहुँचे। अफ़ज़लखाँ के साथ दो सर्दार थे, साथ ही वह स्वयम् भी बड़ा बलिष्ठ था, उसकी कमर से तलवार लटक रही थी। शिवाजी अँगरखा पहने हुए थे और उसी के नीचे कवच तथा बिच्छू-अस्त्र था। पंजों में बाघनख लगे हुए थे। अफ़ज़लखाँ ने शिवाजी को निहत्था समझ आलिंगन के बहाने बड़े ज़ोर से दबाया तथा तलवार से आक्रमण किया। शिवाजी का सन्देह प्रत्यक्ष रूप में सामने आया और वह भी आत्म-रक्षा के लिए उस मुग़ल के मुक़ाबले को तैयार होगये। शिवाजी के कवच पर अफ़ज़ल के खड्ग-प्रहार का कुछ भी प्रभाव न पड़ा, परन्तु शिवाजी के बघनखा ने अफ़ज़ल का पेट फाड़कर उसे यमलोक पहुँचा दिया। अफ़ज़ल के धराशायी होते ही उसके साथी शिवाजी पर टूट पड़े, इधर से शिवाजी के सर्दारों ने भी कोई कसर न छोड़ी। दोनों में खूब लड़ाई हुई और अन्त में अफ़ज़ल के साथियों को भी मृत्यु-मुख में प्रविष्ट होना पड़ा।

बिगुल बजते ही शिवाजी की सतर्क और सुसज्जित सेना मुग़लों पर टूट पड़ी और उसने सारा लश्कर लूट कर सहस्रों सैनिकों को काल का कलेवा बना दिया। जो थोड़े से सिपाही जीवित रहे, वे अपनी जान बचाकर बुरी तरह बीजापुर भाग गये। अफ़ज़ल का लश्कर लूटने पर शिवाजी की सेना के हाथ अनेक अमूल्य वस्तुएँ पड़ीं और उसने जयघोष से गगन-मण्डल गुँजा दिया। आदिलशाह ने जब यह समाचार

सुना तो उसकी निराशा का ठिकाना न रहा वह इस पराजय से इतना भयभीत और त्रस्त होगया कि प्रकट रूप से फिर कभी उसने शिवाजी से युद्ध करने की चेष्टा न की।

अफ़ज़लखाँ का वध तथा उसकी सेना का संहार कर शिवाजी का साहस बहुत बढ़ गया था। उसके वीर सैनिक विजयोन्मत्त हो बड़ी से बड़ी शक्ति की भी कुछ परवा न करते थे। उन्हें दृढ़ विश्वास था कि अब कमसे कम दक्षिण भारत में मुग़लों का आधिपत्य न रहेगा। वे बहुत जल्द इधर से पराजित होकर सदा-सर्वदा के लिए भाग जायँगे। इस विजय के बाद शिवाजी अपने जीते हुए स्थानों पर एक स्वतन्त्र हिन्दू नरेश की तरह शासन करने लगे और उन्होंने अपने नाम का सिक्का भी प्रचलित कर दिया। एक समय वह था जब शिवाजी गाँवों से वीर मावलों को एकत्र कर इधर-उधर आक्रमण किया करते थे, और सदैव उनके हृदय में स्वतन्त्र हिन्दू राज्य स्थापित करने की भावना काम करती रहती थी। उस समय उनकी यह अभिलाषा सुख-स्वप्न या कपोल-कल्पना से अधिक महत्त्व न रखती थी। परन्तु शिवाजी को अपनी सेना, संघटन-शक्ति तथा बाहुबल पर बड़ा विश्वास था और इसीलिए उन्होंने अपने इस विचार को क्षण-भर के लिए भी शिथिल नहीं किया। अन्त में इस दृढ़ निश्चय का परिणाम यह हुआ कि भारत में स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना हुई और शिवाजी के नाम का सिक्का भी चलने लगा।

दिल्ली का बादशाह औरंगज़ेब, शिवाजी की सारी प्रगतियों को बड़े ध्यान-पूर्वक देख रहा था। उसे बीजापुर के सेनापति अफ़ज़लखाँ का वध सुनकर बड़ा दुःख तथा

आश्चर्य हुआ। आश्चर्य इस बात का कि एक हिन्दू सेनापति ने इतने अनुभवी तथा बुद्धिमान मुग़ल महारथी को मार कर उसकी विशाल सेना इस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट कर दी। जो शक्ति इतनी बलवती होती जा रही है, उसका आदि में ही अन्त कर देना ठीक है, नहीं तो आगे चलकर यह बड़ी विघातक सिद्ध होगी। औरंगज़ेब मद में चूर था, उसके हृदय में जातीय विद्वेष और धार्मिक पक्षपात बड़ी तेज़ी से काम कर रहे थे। उसे स्वतन्त्र हिन्दू राज्य स्थापित करने वाले शिवाजी का कार्य-कलाप कैसे पसन्द आसकता था। वह तो हिन्दुओं की उन्नति का शत्रु और उनके धर्म का कट्टर विरोधी था। औरंगज़ेब की मौजूदगी में शिवाजी की ऐसी अनधिकार चेष्टा, इतनी साहसिकता, ऐसी धृष्टता! आश्चर्य, महा आश्चर्य !!

औरंगज़ेब ने शिवाजी का दर्प दलन करने के लिए अपने परम विश्वासपात्र सूबेदार शायस्ताख़ाँ को दक्षिण की ओर भेजा। शायस्ताख़ाँ बड़ी ऐंठ-अकड़ के साथ एक बहुत बड़ी सेना लेकर देहली से रवाना हुआ। पूना आकर वह उसी महल में ठहरा जिसे दादा कौणदेव ने शिवाजी के लिए बनवाया था। शायस्ताख़ाँ की ऐसी अनधिकार चेष्टा देख कर शिवाजी का ख़ून खौल उठा! वे रात्रि को अपने कुछ साथियों सहित, महल में सेंध लगाकर घुस गए और उन्होंने शायस्ताख़ाँ पर आक्रमण कर दिया। शायस्ताख़ाँ शिवाजी को देख कर हड़बड़ा गया और मारे डरके एक खिड़की में होकर कूद पड़ा। कूदते हुए शायस्ताख़ाँ पर शिवाजी ने तलवार का प्रहार किया परन्तु सौभाग्य से वह बच गया और उसकी एक उँगली कट गई। कायर शायस्ताख़ाँ को

प्राण बचाने के उद्योग में, अपने स्त्री-बच्चों की भी सुधि न रही, और वह उस महल में उन्हें उनकी क़िस्मत पर छोड़ कर चलता बना! शायस्ताख़ाँ के भाग जाने पर महल में शिवाजी का असीम आतङ्क स्थापित हो गया। वह चाहते तो शायस्ताख़ाँ के कुटुम्बियों के साथ मनमाना व्यवहार कर सकते थे। परन्तु नहीं, शिवाजी किसी के रनिवास की ओर आँख उठाकर भी देखना पाप समझते थे, उन्हें किसी प्रकार अभीष्ट न था कि वह शायस्ताख़ाँ के बाल-बच्चों पर प्रहार कर अपनी शत्रुता का बदला लेते। शिवाजी जिस मार्ग से महल में घुसे थे उसी से वापस चले गये। इस आक्रमण से मुग़ल-सेना पर शिवाजी का अद्भुत आतंक स्थापित हो गया, वह उनका नाम सुनकर भयभीत होने लगी, लड़ने के लिए मैदान में आना तो बड़े साहस का काम था। जिस सेना के अध्यक्ष शायस्ताख़ाँ ने खिड़की से कूदकर अपनी प्राण-रक्षा की, उसकी निर्बलता और साहस-हीनता का अनुमान सहज ही में किया जा सकता है। औरंगज़ेब शिवाजी की इस कार-गुज़ारी के कारण इतना निराश होगया था कि उसने युद्ध का विचार त्याग कर शायस्ताख़ाँ को देहली बुला लिया।

शायस्ताख़ाँ के पराजय से औरंगज़ेब के नैराश्य और क्रोध का ठिकाना न था। उसने शिवाजी को क़ाबू में करने के लिए एक नयी चाल चली। अब की बार उसने जयपुर-नरेश जयसिंह को शिवाजी पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। जयसिंह ने बड़ी चतुराई से काम लिया। उन्होंने शिवाजी से युद्ध स्थगित कर औरंगज़ेब के साथ सन्धि करने का अनुरोध किया; क्योंकि वह जानते थे कि जिस शिवाजी ने बड़े-बड़े मुग़ल महारथियों का मान-मर्दन कर

दिया उस पर विजय पाना खेल नहीं है। फिर एक हिन्दू नरेश का दूसरे हिन्दू राजा के साथ लड़ना तो और भी अधिक अपमानजनक तथा लज्जास्पद है। यही सब बातें सोच कर जयसिंह ने शिवाजी को औरंगज़ेब के साथ सुलह करने के लिए राज़ी कर लिया। सन्धि-सन्देश से सन्तुष्ट हो जाने पर औरंगज़ेब ने शिवाजी को मिलने के लिए देहली बुलाया और कहला भेजा कि वे निःसंकोच चले आवें; किसी प्रकार की शङ्का न करें। उनका यथोचित स्वागत-सत्कार किया जायगा। महाराज जयसिंह ने भी शिवाजी को इसी प्रकार के सद्-व्यवहार का विश्वास दिलाया और निर्भयता-पूर्वक देहली आने का निमन्त्रण दिया।

सन्धि-सूत्र में बँधे हुए शिवाजी देहली पहुँचे। औरंग-ज़ेब ने अपना ठाठ दिखाने के लिए उस समय एक बहुत बड़ा दरबार किया। अनेक प्रतिष्ठित पुरुष उसमें सम्मिलित थे। जिस समय शिवाजी दरबार में पहुँचे तो उन्हें साधारण सर्दारों में खड़ा होने की आज्ञा दी गई। वीर शिवाजी मुग़ल दरबार में अपना ऐसा अपमान देख क्रोध से जलने लगे और उन्होंने बड़ी निर्भयता-पूर्वक सिंह की भाँति दहाड़कर कहा—"मेरे साथ छल किया गया है—कपट किया गया है। घर पर बुलाकर ऐसा अपमान और विश्वासघात कोई नहीं करता। जो लोग आज इस दरबार में अकड़-अकड़ कर सजे-सजाये बैठे हैं वे ज़रा मैदान में आवें और अपना पराक्रम दिखावें। याद रहे, मैं ऐसी बातों से कभी मुग़ल-सम्राट् की महत्ता स्वीकार नहीं कर सकता, मुझे तो आज इस दरबार से जितनी घृणा हुई है, उतनी पहले कभी नहीं हुई।" शिवाजी की सिंह-गर्जना सुन कर दरबारियों के आश्चर्य का ठिकाना न

रहा; और वे आपस में काना-फूँसी करने लगे कि शिवाजी तो बड़ा उद्दण्ड है, दरबार में उसने जिस भद्दी भाषा का प्रयोग किया है, अवश्य ही वह उसके कारण प्राणदण्ड पाये बिना न रहेगा। औरंगज़ेब अपने सहज शत्रु की ऐसी खरी बातें सुन कर चुप रहा और उस समय उसने एक शब्द भी मुँह से न निकाला।

शिवाजी को अच्छी तरह विश्वास हो गया था कि उनका दिल्ली आना अत्यन्त अनुचित हुआ और अब वह यहाँ से सकुशल दक्षिण वापस नहीं जा सकता। जिस मकान में शिवाजी ठहराये गये थे उस पर औरंगज़ेब ने पहरा बैठा दिया और घोषणा करदी कि शिवाजी किसी दशा में भी बाहर न जाने पावे। शिवाजी बड़े नीति-निपुण थे, उन्होंने औरंग-ज़ेब के फन्दे में फँस कर बड़ी भूल की; परन्तु अन्त में इस विपत्ति से अपना उद्धार करने का उपाय भी सोचा। सब से पहले उन्होंने उन सैनिकों तथा सर्दारों को विदा किया जो दक्षिण से उनके साथ आए थे; पुत्र शम्भाजी तथा दो अन्य सर्दारों को अपने साथ रोक लिया। शिवाजी की वीरता विश्व-विख्यात हो चुकी थी, उनका सुयश-सौरभ दूर-दूर तक फैल गया था। देहली के मुग़ल-सर्दार भी उनकी निर्भयता तथा वीरता के बड़े प्रशंसक थे। सब लोग उनसे मिलने आते और प्रेमपूर्वक वार्त्तालाप करके चले जाते थे। शिवाजी अपने मिलने वालों से सदैव सम्राट् औरंगज़ेब के सुप्रबन्ध और व्यवहार की प्रशंसा किया करते। किसी को लेशमात्र भी सन्देह न था कि शिवाजी अपनी वर्त्तमान परिस्थिति से असन्तुष्ट हैं। कभी-कभी तो वह यह भी कह देते थे कि अबतो आजन्म देहली ही में रहने का विचार है, दक्षिण

जाकर क्या होगा, यहीं शान्तिपूर्वक भगवद्भजन में जीवन बिताना अधिक अच्छा है।

जब शिवाजी के साथ सब लोगों की घनिष्ठता होगई और उन पर किसी मित्र-मिलापी का कुछ भी सन्देह न रहा तो अचानक एक दिन समाचार फैला दिया गया कि शिवाजी सख़्त बीमार हैं, उनके बचने की कोई आशा नहीं रही। इस समाचार से सब लोगों में बड़ी बेचैनी फैल गई, और औरंगज़ेब ने दरयाफ़्त कराया कि इस दशा में उसे किस सहायता की आवश्यकता है। उत्तर में शिवाजी ने कहला भेजा कि मैं दान-पुराय में अधिक रुचि रखता हूँ, सम्भव हो तो इसी की व्यवस्था करा दी जाय। औरंगज़ेब ने तुरन्त आज्ञा दी कि शिवाजी जो दान करना चाहे उसे करने दिया जाय। फिर क्या था, बड़ी-बड़ी झालों में भरकर फल-फूल और मिठाइयाँ साधु, ब्राह्मणों तथा फ़क़ीरों को दी जाने लगीं। सैकड़ों मन मिठाई रोज़ बनती और सब बाँट दी जाती। दिन में कई-कई बार मिठाई की झालें यत्र-तत्र भेजी जाती थीं, इससे पहरेदारों को भी उनके सम्बन्ध में कुछ शङ्का न होती थी। पहले तो वे झालों को खोलकर देखते भी थे, परन्तु पीछे उन्होंने दान-पुराय की क्रिया नैत्यिक होजाने के कारण झालों की देख-भाल बन्द करदी। एक दिन दो झालों में मिठाई तो रक्खी नहीं गई उनमें शिवाजी और शम्भाजी बैठ गए और इस प्रकार पहरेदारों की आँख बचाकर तुरन्त क़िले से बाहर निकल गये और चुपचाप मथुरा जा पहुँचे। शिवाजी अपने पलँग पर एक दूसरे आदमी को सुला गए थे, जो अवसर पाकर थोड़ी देर बाद ही किसी बहाने से बाहर निकल गया। पहरेदारों को इस घटना की बिल्कुल ख़बर

न हुई और वे बराबर निस्सन्देह बने रहे। कई दिनों बाद बादशाह को शिवाजी के भाग जाने की सूचना मिली, बहुत खोज कराई परन्तु शिवाजी कहाँ !

शिवाजी के भाग जाने से औरंगज़ेब की क्रोधाग्नि भड़क उठी, वह शत्रु के निकल जाने पर सिर धुनने और हाथ मलने लगा। इधर शिवाजी वेश बदलकर, दक्षिण पहुँच गए और वहाँ फिर मुग़लों से लोहा लेने की तय्यारी करदी। सन्धि-समय जयसिंह के कहने से जो क़िले शिवाजी ने मुग़ल-सम्राट् को दिए थे, वे भी उन्होंने छीन लिए। अब क्या था भारत-भर में और विशेष कर दक्षिण प्रान्त में शिवाजी का आतङ्क स्थापित होगया और वहाँ के स्वतन्त्र राजाओं से निर्भयता पूर्वक कर वसूल किया जाने लगा। इस समय शिवाजी का बड़े समारोहपूर्वक राज्याभिषेकोत्सव हुआ; जिसमें उन्हें 'महाराज शिव छत्रपति' की उपाधि प्रदान की गई। यह अभिषेक प्रसिद्ध पण्डितों द्वारा १२ दिवस तक विधिवत् होता रहा और इस महोत्सव के उपलक्ष्य में शिवाजी ने लगभग पचास लाख रुपया व्यय किया।

मुग़लों का सिंहगढ़ नामक क़िला जीतने में शिवाजी को अपने मित्र तानाजी से बड़ी सहायता मिली थी। जिस समय तानाजी के पास सिंहगढ़ पर चढ़ाई करने का सन्देश पहुँचा उसी समय वह अपनी बहुत बड़ी सेना सहित सिंहगढ़ के लिए रवाना होगए। बूढ़े तानाजी सिंहगढ़ के समीप रात्रि में पहुँचे और रस्सी के सहारे क़िले की दीवार पर चढ़ गए। तानाजी के पीछे उनके कितने ही सैनिक भी मुँह में तलवार दे देकर, रस्सी को पकड़ क़िले के ऊपर चढ़े। क़िले में पहुँच-कर तानाजी ने बहुत-से शत्रु सैनिकों को मार गिराया। दोनों

ओर के योद्धाओं में घोर घमासान युद्ध हुआ और सिपाही काम आगये। क़िले के अधिपति उदयभानु ने नि... होकर स्वयं मराठों का मुक़ाबला किया जिसमें उसे सफलता प्राप्त हुई। तानाजी अपने देश की सेवा करते हुए सदा-सर्वदा के लिए समर-भूमि में सोगये और उनकी सेना तित्तर-वित्तर होगई। सेनापति तानाजी को खोकर मराठे भागने का इरादा कर ही रहे थे कि इतने में उन्हें ध्यान हुआ कि इस प्रकार हमें पराजित होकर मैदान से हटते देख छत्रपति शिवाजी महाराज क्या कहेंगे। इस कायरता के लिए संसार में हमें धिक्कार के अतिरिक्त और कुछ उपलब्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार पीठ दिखाकर भागने से तो समर-भूमि में प्राण त्याग देना अच्छा है। जहाँ हमारा वीर सेनापति पड़ा है, वहीं हमें भी अपने शरीर अर्पण कर देने चाहिएँ।

एक बार फिर मराठे वीरों ने बड़ी वीरता से शत्रुसेना पर आक्रमण किया और बुरी तरह मार-काट मचा दी। अबकी बार शत्रुओं की फिर हार पर हार होने लगी और वे सिंहगढ़ छोड़कर इधर-उधर भागने लगे। बहुत-से यवन तो पहले ही आक्रमण में यमपुर पहुँचा दिए गए जो बचे वे मराठों की शरण में आगए अथवा पीठ दिखाकर भागगए। भयंकर संघर्ष के बाद मराठों की विजय हुई और सिंहगढ़ पर उनका भगवाँ झण्डा फहराने लगा। थोड़ी देर ही में छत्रपति शिवाजी भी अपनी सेना सहित वहाँ आगए। उन्होंने मराठा सर्दारों को तानाजी के शव के चारों ओर उदास खड़े देखा। तानाजी की मृत्यु से शिवाजी को बड़ा दुःख हुआ। उस समय उन्होंने बड़ी गम्भीर वाणी में कहा—"गढ़ तो प्राप्त होगया, परन्तु सिंह (तानाजी) हाथ से जाता रहा।"

न हुई और वे बराबर निस्सन्देह बने रहे। कई दिनों बाद बादशाह को शिवाजी के भाग जाने की सूचना मिली, बहुत खोज कराई परन्तु शिवाजी कहाँ!

शिवाजी के भाग जाने से औरंगज़ेब की क्रोधाग्नि भड़क उठी, वह शत्रु के निकल जाने पर सिर धुनने और हाथ मलने लगा। इधर शिवाजी वेश बदलकर, दक्षिण पहुँच गए और वहाँ फिर मुग़लों से लोहा लेने की तय्यारी करदी। सन्धि-समय जयसिंह के कहने से जो क़िले शिवाजी ने मुग़ल-सम्राट् को दिए थे, वे भी उन्होंने छीन लिए। अब क्या था भारत-भर में और विशेष कर दक्षिण प्रान्त में शिवाजी का आतङ्क स्थापित होगया और वहाँ के स्वतन्त्र राजाओं से निर्भयता पूर्वक कर वसूल किया जाने लगा। इस समय शिवाजी का बड़े समारोहपूर्वक राज्याभिषेकोत्सव हुआ; जिसमें उन्हें 'महाराज शिव छत्रपति' की उपाधि प्रदान की गई। यह अभिषेक प्रसिद्ध पण्डितों द्वारा १२ दिवस तक विधिवत् होता रहा और इस महोत्सव के उपलक्ष्य में शिवाजी ने लगभग पचास लाख रुपया व्यय किया।

मुग़लों का सिंहगढ़ नामक क़िला जीतने में शिवाजी को अपने मित्र तानाजी से बड़ी सहायता मिली थी। जिस समय तानाजी के पास सिंहगढ़ पर चढ़ाई करने का सन्देश पहुँचा उसी समय वह अपनी बहुत बड़ी सेना सहित सिंहगढ़ के लिए रवाना होगए। बूढ़े तानाजी सिंहगढ़ के समीप रात्रि में पहुँचे और रस्सी के सहारे क़िले की दीवार पर चढ़ गए। तानाजी के पीछे उनके कितने ही सैनिक भी मुँह में तलवार दे देकर, रस्सी को पकड़ क़िले के ऊपर चढ़े। क़िले में पहुँच-कर तानाजी ने बहुत-से शत्रु सैनिकों को मार गिराया। दोनों

ओर के योद्धाओं में घोर घमासान युद्ध हुआ और सिपाही काम आगये। क़िले के अधिपति उदयभानु ने नि- होकर स्वयं मराठों का मुक़ाबला किया जिसमें उसे सफलता प्राप्त हुई। तानाजी अपने देश की सेवा करते हुए सदा-सर्वदा के लिए समर-भूमि में सोगये और उनकी सेना तित्तर-बित्तर होगई। सेनापति तानाजी को खोकर मराठे भागने का इरादा कर ही रहे थे कि इतने में उन्हें ध्यान हुआ कि इस प्रकार हमें पराजित होकर मैदान से हटते देख छत्रपति शिवाजी महाराज क्या कहेंगे। इस कायरता के लिए संसार में हमें धिक्कार के अतिरिक्त और कुछ उपलब्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार पीठ दिखाकर भागने से तो समर-भूमि में प्राण त्याग देना अच्छा है। जहाँ हमारा वीर सेनापति पड़ा, है, वहीं हमें भी अपने शरीर अर्पण कर देने चाहिएँ।

एक बार फिर मराठे वीरों ने बड़ी वीरता से शत्रुसेना पर आक्रमण किया और बुरी तरह मार-काट मचा दी। अबकी बार शत्रुओं की फिर हार पर हार होने लगी और वे सिंहगढ़ छोड़कर इधर-उधर भागने लगे। बहुत-से यवन तो पहले ही आक्रमण में यमपुर पहुँचा दिए गए जो बचे वे मराठों की शरण में आगए अथवा पीठ दिखाकर भागगए। भयंकर संघर्ष के बाद मराठों की विजय हुई और सिंहगढ़ पर उनका भगवाँ झण्डा फहराने लगा। थोड़ी देर ही में छत्रपति शिवाजी भी अपनी सेना सहित वहाँ आगए। उन्होंने मराठा सर्दारों को तानाजी के शव के चारों ओर उदास खड़े देखा। तानाजी की मृत्यु से शिवाजी को बड़ा दुःख हुआ। उस समय उन्होंने बड़ी गम्भीर वाणी में कहा—"गढ़ तो प्राप्त होगया, परन्तु सिंह (तानाजी) हाथ से जाता रहा।"

न हुई बात ...िवाजी के धर्मगुरु समर्थ रामदास थे, इनका उनके ...ीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। वे अपने सारे कार्यों में गुरु का आशीर्वाद आवश्यक समझते थे। जितने राज्यों और दुर्गों पर शिवाजी ने अधिकार किया उन सब पर ही वे अपने गुरु का अधिकार समझते थे। इसीलिए उन्होंने अपने झण्डे का रंग भगवाँ रक्खा था, क्योंकि संन्यासियों के वस्त्र भी इसी रंग के होते हैं। शिवाजी की इस गुरु-भक्ति की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। शिवाजी ने जीवन-भर युद्ध किए परन्तु न तो उन्होंने किसी स्त्री पर हाथ डाला और न कभी किसी मस्जिद को मिस्मार कराया। यही नहीं उनके यहाँ कितने ही मुसलमान भी नौकर थे, जिनके साथ वे बड़े प्रेम और उदारता का व्यवहार करते थे। शिवाजी ने कितनी ही मस्जिदों को जागीरें प्रदान कीं तथा उनके लिए आर्थिक सहायता भी दी। वे अपनी प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न होने देते और उसकी शिकायतें तुरन्त दूर करते थे। शासन में हिन्दू मुसलमान का कोई भेद-भाव न किया जाता था। न्याय और सत्य पर ही उनका सदैव लक्ष्य रहता था। शिवाजी की बचपन से ही स्वतन्त्र हिन्दू राज्य स्थापित करने की अभिलाषा थी जो परमात्मा के अनुग्रह से पूरी हुई, और वह स्वतन्त्र हिन्दू नरेश सिंह की तरह निर्भयता पूर्वक शासन करता हुआ ५३ वर्ष की आयु में स्वर्गवासी हुआ।

महाकवि भूषण

भूषणजी का जन्म सन् १६१४ ई० के लगभग हुआ बताया जाता है। कानपुर ज़िले में तिकवाँपुर नामक एक गाँव है। वहाँ के निवासी पं० रत्नाकरजी एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण थे, इन्हीं रत्नाकरजी के घर में वीररस के उत्कृष्ट कवि भूषण का जन्म हुआ। चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और नीलकंठ ये चार भाई थे और चारों ही अच्छे कवि हो गए हैं। भूषण अपने जीवनकाल में ही इतनी ख्याति लाभ कर चुके थे, कि लोग इन्हें इनकी उपाधि से ही पुकारने लगे थे। यही कारण है कि बहुत खोज करने पर भी भूषण का वास्तविक नाम मालूम नहीं हो सका। 'भूषण' की उपाधि इन्हें सोलंकी राजा रुद्रराम ने प्रदान की थी।

भूषणजी बालकपन में बड़े ही उद्दण्ड प्रकृति के थे। पढ़ने-लिखने में इनकी तनक भी रुचि न थी। लगभग बीस वर्ष की अवस्था तक यह निरक्षर भट्टाचार्य रहे। वह न तो जीविकोपार्जन ही करते थे और न घर के काम-धन्धे से ही हाथ लगाते थे। इनके बड़े भाई चिन्तामणि तो भ्रातृ-स्नेह के कारण कुछ न कहते, परन्तु इनकी भावज को इनका निठल्लापन, बहुत बुरा लगता था; वह जब-तब इनको खरी-खोटी भी सुना देती थी। सच तो यह है, कि यदि इनकी भाभी तीखभरी बातें कह कर इन्हें उत्तेजित न करती, तो सम्भव है, आज कोई भूषण का नाम भी न जानता। यह इनकी भाभी का ही काम था, जो उसने इनके स्वाभिमान को उत्तेजना देकर इन्हें पठन-पाठन की ओर प्रवृत्त किया। यह घटना इस

प्रकार बताई जाती है, कि एक दिन भूषणजी भोजन करने बैठे, तो दाल या शाक में नमक कम था। इन्होंने अपनी भाभी से थोड़ा नमक माँगा। इस पर उसने ताना देते हुए कहा—"क्या नमक लाकर घर में रख दिया है, जो इस तरह हुक्म चला दिया। यहाँ नमक-वमक कुछ भी नहीं है। खाना हो, तो ऐसा ही खालो।" कहते हैं, भाभी की यह बात भूषणजी को ऐसी लग गई, कि वह उसी समय भोजन छोड़ कर उठ बैठे और जाते हुए बोले—"अच्छा भाभी, अब हम जब नमक लाकर रख देंगे, तभी घर में भोजन करेंगे।"

भूषणजी ने बाहर जाकर पढ़ना शुरू कर दिया। विद्या-प्राप्ति के लिए इन्होंने इतना परिश्रम किया कि वह आठ-दस वर्षों में ही संस्कृत तथा हिन्दी के उत्कृष्ट ज्ञाता और बड़े विद्वान् बन गए। इसी समय इनकी ईश्वर-प्रदत्त कवित्व शक्ति भी चमक उठी और यह बड़ी सुन्दर कविता करने लगे। किन्हीं-किन्हीं भावुक भक्तों का कथन है, कि एक दिन भूषणजी ने अपनी जीभ काट कर देवी के भेंट चढ़ा दी थी। देवी के आशीर्वाद से वह उसी क्षण कवीश्वर बन गए और अपनी काव्य-सुधा द्वारा सहृदय-समाज को परितृप्त करने लगे। कुछ भी हो, हम तो यही समझते हैं कि भूषण के जीवन में जो यह आशातीत परिवर्त्तन हुआ, वह इनकी भाभी की भर्त्सना के ही कारण हुआ। अस्तु,

अध्ययन समाप्त कर भूषणजी आजीविका की खोज में इधर-उधर घूमने लगे। उन दिनों राजा-महाराजाओं के यहाँ कवियों का अपूर्व सम्मान होता था। प्रायः सभी राजा लोग अपने दरबारों में एक-दो कवि और चारण रखते थे। ये राजकवि राजाओं के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली ऐतिहासिक घटनाएं तो काव्य

रूप में लिखते ही थे, आवश्यकता होने पर वह युद्ध-क्षेत्रों में भी सेना के साथ जाते और अपनी वीररस-पूर्ण रचनाएँ सुनाकर सैनिकों में वीर-भाव भरते थे—उन्हें कट-कट कर लड़ने के लिए प्रोत्साहन देते थे। उस समय भला भूषण जैसे वीर काव्य रचयिता के लिए राजाश्रय प्राप्त होना कौन कठिन काम था। शीघ्र ही उनकी चित्रकूटाधीश्वर रुद्रामजी से भेंट हो गई और उन्होंने भूषणजी को अपना राजकवि नियुक्त कर लिया। इन्हीं रुद्राम ने इस महाकवि को 'कवि भूषण' की उपाधि से अलंकृत किया था। धीरे-धीरे यह उपाधि यहाँ तक प्रसिद्ध होगई कि आज उसने कवि के यथार्थ नाम को भी भुला दिया है।

चिरकाल तक चित्रकूट के दरबार में रहने के पश्चात् भूषणजी वहाँ से चले गए। इसके आगे कोई तो इनका महाराष्ट्र-केसरी छत्रपति शिवाजी के दरबार में जाना सिद्ध करते हैं और किन्हीं का मत है कि वह पहले औरंगज़ेब के दरबार में गए तथा वहाँ अनबन हो जाने के कारण फिर शिवाजी के यहाँ पहुँचे। पीछे गए हों,या पहले, पर भूषणजी औरंगज़ेब के यहाँ गए अवश्य थे। भूषण के पहुँचने से पूर्व इनके भाई मतिरामजी औरंगज़ेब के दरबार में रहते थे। मतिरामजी प्रायः शृङ्गार रस की रुचिर रचनाएँ सुना-सुनाकर औरंगज़ेब का मनोरञ्जन किया करते थे। भूषणजी के पहुँचने पर औरंग-ज़ेब ने उनसे भी अपनी कविता सुनाने के लिए कहा। इस पर भूषणजी बोले—"बादशाह सलामत, अगर आप मेरी कविता सुनना चाहते हैं, तो पहले हाथ धो लीजिए। क्योंकि मेरे भाई की शृङ्गार-रसमयी कविताएँ सुन कर, आपका हाथ अवश्य ठौर-कुठौर पड़ता होगा और अब मेरी वीर भाव

पूर्ण रचनाओं के कारण निश्चय ही वह मूँछों पर जायगा"
इस पर बादशाह ने कहा कि अगर हाथ मूँछों पर न गया
तो तुम्हें जान से मरवा डालूँगा। भूषणजी ने बादशाह की
उपर्युक्त शर्त स्वीकार करली और अपना पद्य-पाठ प्रारम्भ
किया। कहते हैं, उस समय भूषणजी ने शिवाजी की प्रशंसा
में ऐसे वीररस-पूर्ण छन्द सुनाए, कि जिन्हें सुनते ही
बादशाह का हाथ बरबस मूँछों पर चला गया।

भूषणजी की निर्भीकता और सत्यवादिता के सम्बन्ध में
एक दूसरी घटना भी प्रसिद्ध है। कहते हैं, भूषणजी एक दिन
अनेक कवियों के साथ दरबार में बैठे थे। उस
समय औरंगज़ेब ने सब कवियों को सम्बोधन करके कहा,
कि तुम लोग हमेशा अपनी कविताओं में मेरी तारीफ़ के
पुल बाँधा करते हो। क्या मेरे अन्दर बुराई कोई भी नहीं है।
अगर है, तो तुम लोग उसकी चर्चा क्यों नहीं करते। औरंग-
ज़ेब की बात सुन, और कवि तो चुप रहे, परन्तु भूषणजी
निर्भयता पूर्वक बोले—"जहाँपनाह, अगर आप सुनने के लिए
तैयार हों, तो आपके सम्बन्ध में सच्ची-सच्ची बातें मैं सुना
सकता हूँ। इसमें भी शर्त यह है कि आपको पहले मेरी
जीवन-रक्षा के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध होना पड़ेगा।" औरंगज़ेब ने
भूषण की शर्त मंजूर करके उसी समय उनको जान बख़्शने
का प्रतिज्ञा-पत्र लिख दिया। इसके बाद भूषणजी ने निम्न-
लिखित पद्य पढ़कर सुनाया—

किबले के ठौर बाप बादसाह साहजहाँ,
ताको कैद कियो मानो मक्के आगि लाई है।
बड़ो भाई दारा वाको पकरि कै कैद कियो,
मेहर हू नाहिं माको जायो सगो भाई है॥

बन्धु तो मुरादबक्स बादि चूक करिबे को,
बीच दे कुरान खुदा की कसम खाई है।
भूषन सुकवि कहै, सुनो नवरंगजेब,
एते काम कीने तब पातसाही पाई है॥

भूषणजी ने बात तो बिल्कुल ठीक कही, परन्तु थी वह अत्यन्त कड़वी। कवित्त सुनते ही औरंगज़ेब मारे क्रोध के आग-बबूला हो गया। यदि वह प्राण-रक्षा के लिए प्रतिज्ञाबद्ध न होता, तो निश्चय ही भूषणजी का काम तमाम कर देता। फिर भी औरंगज़ेब अपने क्रोध को संवरण न कर सका और भूषणजी से बोला—"अच्छा, मैं तुम्हें और सज़ा तो क्या दूँ, बस आज से अपना मुँह मुझे मत दिखाना।" भूषण को भला क्या परवा थी, वह तुरन्त अपनी केसर घोड़ी पर सवार हो, शिवाजी से मिलने चल दिये। कहते हैं, चलते समय कविवर ने अपने साथी कविजनों को तो नमस्कार किया, परन्तु बादशाह से कुछ भी नहीं कहा।

जिस समय भूषणजी शिवाजी की राजधानी रायगढ़ में पहुँचे, उस समय सन्ध्या हो चली थी। संयोगवश एक बाग में भूषणजीकी शिवाजी से भेंट हो गई, ये दोनों परस्पर एक दूसरे के नाम तो जानते थे, परन्तु सूरत-शक्ल से अनभिज्ञ थे। भूषणजी ने शिवाजी को अपना परिचय देते हुए कहा—"मैं वीरवर शिवाजी से मिलने आया हूँ।" शिवाजी ने भूषण को अपने पास बिठा लिया और बोले—"कविराज, शिवाजी से तो आपकी भेंट कल प्रातःकाल दरबार में होगी, उनको सुनाने के लिए आपने अनेक उत्तमोत्तम कविताएँ रची होंगी; उनमें से एकाध छन्द आप मुझे भी सुनादें तो बड़ी कृपा हो।" इस पर भूषणजी ने निम्नलिखित कवित्त पढ़कर सुनाया—

इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाड़व सु अम्भ पर
रावन सदम्भ पर रघुकुलराज है।
पौन बारिबाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस बाहु पर राम द्विजराज है॥
दावा द्रुम दण्ड पर, चीता मृग झुण्ड पर,
भूषण वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥

भूषणजी की ओजस्विनी वाणी से उक्त पद्य सुन कर शिवाजी मुग्ध हो गए। एक बार सुन कर उनकी तृप्ति न हुई और उन्होंने बार-बार वह छन्द सुनाने के लिए भूषणजी से आग्रह किया। कवि के लिए तो गुण-ग्राहक श्रोता होना चाहिए, उसे कविता सुनाने में भला कब संकोच हो सकता है। भूषणजी अब तक थके नहीं, बार-बार वह पद्य शिवाजी को सुनाते रहे। कहते हैं, भूषणजी ने अठारह बार यह पद्य शिवाजी को सुनाया। जब थक जाने के कारण भूषण ने पद्य-पाठ बन्द कर दिया तो शिवाजी बोले—"कविवर, शिवाजी मैं ही हूँ। आपका यह कवित्त मुझे अत्यधिक पसन्द आया है। मैं अपने मन में प्रतिज्ञा कर चुका था कि आप जितनी बार इसे सुनावेंगे, मैं उतने ही लक्ष रुपए, उतने ही हाथी और उतने ही गाँव आपको पारितोषिक में दूँगा। मुझे खेद है कि आप इसे केवल अठारह बार ही पढ़ सके। इसके उपहार स्वरूप अठारह लाख रुपये, अठारह हाथी और अठारह गाँव मैं आपको प्रदान करता हूँ। आप कल दरबार में पधारिये, उसी समय इस पुरस्कार की उचित लिखा-पढ़ी कर दी जायगी।"

दूसरे दिन भूषण दरबार में उपस्थित हुए। वहाँ शिवाजी ने पूर्व प्रतिज्ञात वस्तुएँ भूषण को देकर उनको नियमानुसार लिखा-पढ़ी करदी, तथा उस दिन से भूषण को अपना राज-कवि भी बना लिया। इसके बाद भूषणजी कई वर्षों तक लगातार शिवाजी के दरबार में रहे और वहीं रह कर उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध काव्य 'शिवराज-भूषण' की रचना की।

कुछ लोगों का मत है कि भूषणजी ने शिवाजी को एक ही कवित्त बार-बार नहीं सुनाया, बल्कि अलग-अलग बावन कवित्त सुनाए, जो 'शिवा-बावनी' के नाम से प्रसिद्ध हैं, और उन बावन पद्यों के सुनाने पर शिवाजी ने बावन हाथी उनको पुरस्कार स्वरूप दिये थे। भूषण ने चाहे एक कवित्त अनेक बार सुनाया हो, या भिन्न-भिन्न छन्द पढ़े हों, परन्तु इस बात में किसी को सन्देह नहीं हो सकता, कि शिवाजी के दरबार में भूषण का बहुत आदर हुआ और वहाँ से उनको यथेष्ट द्रव्य भी मिला। कहा जाता है कि भूषणजी ने इसी धन में से बहुत-सा नमक खरीद कर अपने घर भेजा था।

घर से निकलने के लगभग पचास साल पश्चात् भूषणजी को अपने पारिवारिक जनों से मिलने तथा अपनी जन्म-भूमि के दर्शन करने की उत्कट अभिलाषा हुई। वह उसी समय शिवाजी के दरबार से घर के लिए चल दिए। मार्ग में महोबा-नरेश छत्रसाल बुन्देला की राजधानी में ठहरे। महाराज छत्रसाल ने जब सुना कि महाकवि भूषण महोबा में पधारे हैं, तो उन्होंने बड़े आदर-भाव से उन्हें दरबार में बुलाया और उनके अनुरूप ही उनका स्वागत-सत्कार किया। भूषणजी बुन्देलाधिपति के आग्रह को टाल न सके और उनका आतिथ्य स्वीकार कर कितने ही दिनों तक महोबा में रहे।

महोबा-नरेश भूषणजी की कविताओं पर इतने मुग्ध थे, कि वह उन्हें अपने यहाँ से जाने देना नहीं चाहते थे। अन्त में जब भूषणजी अत्यन्त आग्रह पूर्वक अपने घर जाने लगे, तब महाराज छत्रसाल ने भक्ति-भाव के आवेश में कविवर की पालकी स्वयं अपने कंधों पर उठाली। भूषण वह देखते ही पालकी से कूद पड़े और उन्होंने उसी समय कतिपय छन्द छत्रसाल की प्रशंसा में पढ़कर सुनाये। यही पद्य पीछे 'छत्र-साल-दशक' नाम से प्रसिद्ध हुए।

घर पहुँच कर भूषणजी अपने कुटुम्बियों से मिले और फिर बहुत समय तक बाहर नहीं गये। भूषणजी जहाँ निर्भीक और सत्यवादी थे, वहाँ उदार और त्यागी भी बड़े थे। उन्होंने रुपये के लालच से कभी किसी की झूठी प्रशंसा नहीं की। वह सदा तथ्य बातों का ही वर्णन करते थे। यहाँ तक कि उन्होंने शिवाजी की भी अनेक स्थलों पर कड़ी आलोचना की है। भूषण किसी राजा या महाराजा के भक्त न थे, प्रत्युत उनके गुणों के प्रशंसक थे। सच पूछा जाय, तो भूषणजी हिन्दुत्व के प्रबल पक्षपाती और हिन्दू-हित-रक्षक नरेशों के भक्त थे। अपनी रचनाओं के लिए प्रचुर द्रव्य पाकर उन्हें उतनी प्रसन्नता न होती थी, जितनी जनता में उनका आदर देख कर। भूषणजी ने आत्म-सम्मान के आगे धन को कभी महत्व नहीं दिया। अनेक बार वे आत्म-प्रतिष्ठा के लिए, धन को धूल समझ, उस पर लात मार कर चले गए। इनके सम्बन्ध में, कुमाऊँ-नरेश के यहाँ से भी एक बार एक लाख रुपये की ढेरी ठुकरा कर चले आने की बात प्रसिद्ध है।

कहते हैं, भूषणजी ने कुमाऊँ-नरेश की बहुत प्रशंसा सुनी तो वह उससे मिलने के लिए गए। वहाँ पहुँच,

इन्होंने राजा की प्रशंसा में एक पद्य पढ़ कर सुनाया। कुमाऊँ-नरेश समझा कि, जिस प्रकार अन्य कवि-जन धन-प्राप्ति की इच्छा से आ-आकर झूठी-सच्ची प्रशंसा के पुल बाँधा करते हैं, उसी भाँति भूषण भी द्रव्य-प्राप्ति की कामना से आए होंगे। यह सोच राजा ने न तो भूषणजी का कुछ स्वागत-सत्कार किया और न उनकी कविता की कुछ दाद दी। उसने तुरन्त अपने दानाध्यक्ष को आज्ञा दे दी कि इन कविराज को एक लाख रुपए देकर विदा कर दिया जाय। भूषणजी भला निरादर-पूर्वक ऐसा पुरस्कार कब लेने वाले थे। वह तुरन्त कहने लगे—"राजन्, मैं आपके पास पारितोषिक-प्राप्ति की अभिलाषा से नहीं आया, मैं तो केवल तुम्हारी सहृदयता और गुण-ग्राहकता की परीक्षा लेने आया था, सो इन दोनों बातों का तुममें प्रायः अभाव ही देखता हूँ। मुझे तुम्हारे एक लाख रुपए तो क्या, समस्त राज्य की भी आवश्यकता नहीं है।" यह कह कर भूषणजी अपने घर लौट गए।

इसके बाद भूषणजी शिवाजी और छत्रसाल के दरबारों में बराबर आते-जाते रहे। कुछ दिनों में शिवाजी का स्वर्गवास हो गया और उनके पुत्र शम्भाजी भी मारे गये। शम्भाजी के बाद साहुजी रायगढ़ की गद्दी पर बैठे। उस समय भी रायगढ़ के दरबार में भूषण का आना-जाना बराबर बना रहा। भूषण ने साहुजी की प्रशंसा में भी अनेक छन्द बनाए हैं।

महाकवि भूषण ने अपनी वाणी और लेखनी द्वारा हिन्दू जाति का अपूर्व हित-साधन किया है। जो काम बड़े-बड़े वीरों की तेज़ तलवारें करती थीं, वही भूषण की विमल वाणी ने किया। भूषणजी राजपूत-सेना के साथ युद्ध-क्षेत्रों में जाते और अपनी वीर-रस-पूर्ण कविताएँ सुना कर सैनिकों के अन्दर वीर-भाव भरते थे। वीर राजपूत लड़ते-

लड़ते श्रान्त और शिथिल हो जाते तो भूषणजी का एक-एक पद्य उनके लिए संजीवनी बूटी का काम करता था। भूषणजी की कविता सुनते ही राजपूतों के थके हुए शरीरों में उत्साह और साहस की बिजली दौड़ जाती थी। उनकी निर्जीव नसों में उष्ण रक्त प्रवाहित होने लगता था और वे अपनी तलवार खींच कर शत्रुओं का दर्प दलन करने के लिए फिर से मैदान में आ डटते थे।

मुग़ल-शासन-काल में हिन्दुत्व की रक्षा के लिए जो कार्य छत्रपति शिवाजी, छत्रसाल बुन्देला आदि हिन्दू नरेशों ने किया, उसमें भूषण का भी पूरा हाथ था। सच तो यह है कि, जहाँ देवमन्दिरों और हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए वीर राजपूत कर में कृपाण लेकर मैदान में आए वहाँ वही कार्य महाकवि भूषण ने अपनी लेखनी की नोक से किया। भूषणजी ने अपनी ओजस्विनी वाणी द्वारा जीवनी शक्ति-संचार करके प्रायः हिन्दू-जाति को जीवित किया, जीवितों को वीर और वीरों को विजेता बनाया। उस समय कविवर भूषण विधर्मियों से लोहा लेने के लिए, यदि राजपूतों को प्रोत्साहित न करते तो कदाचित् आज हिन्दू-जाति इस स्वरूप में दिखाई न देती। शायद ही किसी मानव-शरीर पर शिखा-सूत्र के चिह्न दृष्टिगत होते।

इस प्रकार चिरकाल तक हिन्दू-जाति की हित-रक्षा करते हुए, एक सौ दो वर्ष की पूर्णायु प्राप्त कर सन् १७१५ ई० में भूषणजी स्वर्गवासी हुए। भूषण की बनाई 'शिवराज-भूषण', 'शिवा-बावनी' और 'छत्रसाल-दशक' ये तीन पुस्तकें प्राप्य हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फुटकर पद्य भी आपके बनाए हुए मिलते हैं।

महाराज छत्रसाल

आज से लगभग तीन सौ वर्ष पहले का समय भारत के लिए अग्नि-परीक्षा का समय था, उन दिनों दिल्ली के राजसिंहासन पर प्रबल पराक्रमी मुग़ल-सम्राट् औरंगज़ेब शासन करता था। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि हिन्दुओं के लिए औरंगज़ेब से अधिक क्रूर और उनके धर्म का विघातक दूसरा कोई शासक नहीं हुआ। ठीक भी है, जो व्यक्ति अपने जन्मदाता पिता को क़ैद कर, एक-एक बूँद पानी के लिए तरसा सकता है, राज्यलक्ष्मी के लालच में फँस सगे भाई दारा को क़त्ल करा सकता है, वह विधर्मी हिन्दुओं के साथ अनुचित व्यवहार करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? अस्तु, उसी युग में इस वीर-प्रसू भारत-वसुन्धरा ने कुछ जातियाँ ऐसी उत्पन्न कीं, जिन्होंने अपनी प्राणाधिक स्वतन्त्रता के महत्त्व को पहँचाना तथा प्राणों की बलि देकर उसे प्राप्त किया। इन जातियों में से पंजाब के सिक्ख, महाराष्ट्र के मरहठे और बुन्देलखण्ड के बुन्देलों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। महाराज छत्रसाल बुन्देला-जाति के ही मुकुटमणि थे।

युक्तप्रान्त और मध्य-प्रदेश के बीच का भाग बुन्देलखण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। यह भूमिभाग वैसे तो बहुत ही ऊबड़-खाबड़ और पथरीला है। छोटी-छोटी पहाड़ियों और कटीली झाड़ियों की इस प्रदेश में भरमार है। इधर न तो कहीं हरी-भरी खेती से परिपूर्ण लम्बे-चौड़े मैदान हैं और न गगन-चुम्बिनी विशाल अट्टालिकाओं से मण्डित घने और विशाल नगर। फिर भी यह प्रान्त स्वतन्त्रता देवी के पक्के पुजारी वीर

बुन्देलों की जन्मभूमि होने के कारण बड़ा प्रसिद्ध है। इतिहास-प्रसिद्ध-वीर लड़ाके आल्हा-ऊदल की जन्मभूमि महोबा नगर इसी बुन्देलखण्ड में है। इसी महोबा ने हमारे चरितनायक वीरवर छत्रसाल को भी जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त किया था।

आज से लगभग तीन शताब्दी पूर्व महोबा एक छोटी-सी जागीर थी और प्रबल पराक्रमी वीरवर चम्पतराय इसका शासन करते थे। इन्हीं चम्पतराय के घर में छत्रसाल का जन्म हुआ। उन दिनों देश में पढ़ना-लिखना इतना आवश्यक न समझा जाता था कि कोई व्यक्ति अपनी आयु का आधा भाग उसी में व्यतीत करदे। उस समय लोगों को, विशेषकर क्षत्रियों को, इतना अवकाश कहाँ था, कि वे अपने बालकों को पच्चीस-तीस साल की आयु तक पढ़ाते। पढ़ना तो दूर, उन्हें उन दिनों निश्चिन्त भाव से बैठ कर रोटी खाने तक का अवसर न मिलता था। दिन-रात मुसलमानों से लड़ाइयाँ छिड़ी रहती थीं। घोड़ों की पीठ ही वीर क्षत्रियों का घर था। उनका खाना-पीना, सोना-जागना, पूजा-पाठ सब कुछ घोड़ों की कमर पर ही होता था। स्त्री-बच्चे तक उन्हें लड़ाई के मैदान में साथ रखने पड़ते थे। बालक छत्रसाल को भी छोटी आयु से ही अपने पिता के साथ प्रायः रणभूमि में ही रहना पड़ा था। यही कारण था कि छत्रसाल के हृदय में वीरता और स्वतन्त्रता के भाव पूर्णरूप से भर गए थे। छत्रसाल देखता था कि उसके पिता कठिन-से-कठिन कष्ट और भारी-से भारी विपत्ति आने पर भी स्वाधीनता हाथ से नहीं जाने देना चाहते। वह स्वतन्त्रता के पीछे ऐसे पागल हैं कि उन्हें उसके आगे घर-बार, स्त्री-बच्चे तो अलग रहे, अपने प्राणों तक की परवा नहीं है, दिन-रात स्वदेश-रक्षा की धुन में मस्त रहते हैं।

बुन्देलों की जन्मभूमि होने के कारण बड़ा प्रसिद्ध है इतिहास प्रसिद्ध-वीर लड़ाके आल्हा-ऊदल की जन्मभूमि महोबा नगर इसी बुन्देलखण्ड में है। इसी महोबा ने हमारे चरितनायक वीरवर छत्रसाल को भी जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त किया था।

आज से लगभग तीन शताब्दी पूर्व महोबा एक छोटी-सी जागीर थी और प्रबल पराक्रमी वीरवर चम्पतराय इसका शासन करते थे। इन्हीं चम्पतराय के घर में छत्रसाल का जन्म हुआ। उन दिनों देश में पढ़ना-लिखना इतना आवश्यक न समझा जाता था कि कोई व्यक्ति अपनी आयु का आधा भाग उसी में व्यतीत करदे। उस समय लोगों को, विशेषकर क्षत्रियों को, इतना अवकाश कहाँ था, कि वे अपने बालकों को पच्चीस-तीस साल की आयु तक पढ़ाते। पढ़ना तो दूर, उन्हें उन दिनों निश्चिन्त भाव से बैठ कर रोटी खाने तक का अवसर न मिलता था। दिन-रात मुसलमानों से लड़ाइयाँ छिड़ी रहती थीं। घोड़ों की पीठ ही वीर क्षत्रियों का घर था। उनका खाना-पीना, सोना-जागना, पूजा-पाठ सब कुछ घोड़ों की कमर पर ही होता था। स्त्री-बच्चे तक उन्हें लड़ाई के मैदान में साथ रखने पड़ते थे। बालक छत्रसाल को भी छोटी आयु से ही अपने पिता के साथ प्रायः रणभूमि में ही रहना पड़ा था। यही कारण था कि छत्रसाल के हृदय में वीरता और स्वतन्त्रता के भाव पूर्णरूप से भर गए थे। छत्रसाल देखता था कि उसके पिता कठिन-से-कठिन कष्ट और भारी-से भारी विपत्ति आने पर भी स्वाधीनता हाथ से नहीं जाने देना चाहते। वह स्वतन्त्रता के पीछे ऐसे पागल हैं कि उन्हें उसके आगे घर-बार, स्त्री-बच्चे तो अलग रहे, अपने प्राणों तक की परवा नहीं है, दिन-रात स्वदेश-रक्षा की धुन में मस्त रहते हैं।

इन सब बातों से छत्रसाल भी स्वतन्त्रता देवी के अनन्य भक्त और पक्के पुजारी बन गए। पिता के आदर्श जीवन का उन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह बूढ़े होकर अस्सी साल की आयु तक बराबर स्वाधीनता के लिए युद्ध करते रहे।

उस समय बुन्देलखण्ड के राजा लोग, औरंगज़ेब के प्रताप और प्रभाव से अभिभूत हो, अपने पूर्व पुरुषाओं के रक्त से सींची हुई स्वतन्त्रता-वल्लरी को नष्ट-भ्रष्ट करा चुके थे। केवल चम्पतराय ही थे, जो अब भी प्राण-पण से आत्म-गौरव और स्वाधीनता की रक्षा कर रहे थे। कोई भी राजा या जागीरदार धन या सेना से तो क्या बातों तक से चम्पतराय की सहायता न करता था। आख़िर चम्पतराय शक्तिसम्पन्न औरंगज़ेब के आगे कब तक टिक सकते थे। अन्ततः युद्ध में लड़ते-लड़ते वीरवर चम्पतराय वीरगति को प्राप्त हो गए।

पिता का स्वर्गवास होते ही उनकी कीर्ति-रक्षा का कठिन कर्त्तव्य-भार छत्रसाल के कंधों पर आ पड़ा। वह वीर शीघ्र अपनी शक्ति संघटित कर तुरन्त मुग़ल-सम्राट् औरंगज़ेब से लोहा लेने के लिए सन्नद्ध हो गया। छत्रसाल को अपने पूर्वजों की मान-मर्यादा का पूरा ध्यान था। उसके पिता का उपदेश कि—"बेटा, जान दे देना पर अपने घराने की आन मत जाने देना" उसे हर समय सचेत करता रहता था। भला छत्रसाल मुग़ल-साम्राज्य की अधीनता कब स्वीकार करने वाला था। वह अकेला ही औरंगज़ेब के विरुद्ध जुट गया और यत्रतत्र घूम-घूम कर जागीरदारों को देशभक्ति तथा स्वतन्त्रता का महत्त्व समझाने लगा। औरंगज़ेब के भय से

बुन्देलों की जन्मभूमि होने के कारण बड़ा प्रसिद्ध है। इतिहास-प्रसिद्ध-वीर लड़ाके आल्हा-ऊदल की जन्मभूमि महोबा नगर इसी बुन्देलखण्ड में है। इसी महोबा ने हमारे चरितनायक वीरवर छत्रसाल को भी जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त किया था।

आज से लगभग तीन शताब्दी पूर्व महोबा एक छोटी-सी जागीर थी और प्रबल पराक्रमी वीरवर चम्पतराय इसका शासन करते थे। इन्हीं चम्पतराय के घर में छत्रसाल का जन्म हुआ। उन दिनों देश में पढ़ना-लिखना इतना आवश्यक न समझा जाता था कि कोई व्यक्ति अपनी आयु का आधा भाग उसी में व्यतीत करदे। उस समय लोगों को, विशेषकर क्षत्रियों को, इतना अवकाश कहाँ था, कि वे अपने बालकों को पच्चीस-तीस साल की आयु तक पढ़ाते। पढ़ना तो दूर, उन्हें उन दिनों निश्चिन्त भाव से बैठ कर रोटी खाने तक का अवसर न मिलता था। दिन-रात मुसलमानों से लड़ाइयाँ छिड़ी रहती थीं। घोड़ों की पीठ ही वीर क्षत्रियों का घर था। उनका खाना-पीना, सोना-जागना, पूजा-पाठ सब कुछ घोड़ों की कमर पर ही होता था। स्त्री-बच्चे तक उन्हें लड़ाई के मैदान में साथ रखने पड़ते थे। बालक छत्रसाल को भी छोटी आयु से ही अपने पिता के साथ प्रायः रणभूमि में ही रहना पड़ा था। यही कारण था कि छत्रसाल के हृदय में वीरता और स्वतन्त्रता के भाव पूर्णरूप से भर गए थे। छत्रसाल देखता था कि उसके पिता कठिन-से-कठिन कष्ट और भारी-से भारी विपत्ति आने पर भी स्वाधीनता हाथ से नहीं जाने देना चाहते। वह स्वतन्त्रता के पीछे ऐसे पागल हैं कि उन्हें उसके आगे घर-बार, स्त्री-बच्चे तो अलग रहे, अपने प्राणों तक की परवा नहीं है, दिन-रात स्वदेश-रक्षा की धुन में मस्त रहते हैं।

इन सब बातों से छत्रसाल भी स्वतन्त्रता देवी के अनन्य भक्त और पक्के पुजारी बन गए। पिता के आदर्श जीवन का उन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह बूढ़े होकर अस्सी साल की आयु तक बराबर स्वाधीनता के लिए युद्ध करते रहे।

उस समय बुन्देलखण्ड के राजा लोग, औरंगज़ेब के प्रताप और प्रभाव से अभिभूत हो, अपने पूर्व पुरुषाओं के रक्त से सींची हुई स्वतन्त्रता-वल्लरी को नष्ट-भ्रष्ट करा चुके थे। केवल चम्पतराय ही थे, जो अब भी प्राण-पण से आत्म-गौरव और स्वाधीनता की रक्षा कर रहे थे। कोई भी राजा या जागीरदार धन या सेना से तो क्या बातों तक से चम्पतराय की सहायता न करता था। आख़िर चम्पतराय शक्तिसम्पन्न औरंगज़ेब के आगे कब तक टिक सकते थे। अन्ततः युद्ध में लड़ते-लड़ते वीरवर चम्पतराय वीरगति को प्राप्त हो गए।

पिता का स्वर्गवास होते ही उनकी कीर्ति-रक्षा का कठिन कर्त्तव्य-भार छत्रसाल के कंधों पर आ पड़ा। वह वीर शीघ्र अपनी शक्ति संघटित कर तुरन्त मुग़ल-सम्राट् औरंगज़ेब से लोहा लेने के लिए सन्नद्ध हो गया। छत्रसाल को अपने पूर्वजों की मान-मर्यादा का पूरा ध्यान था। उसके पिता का उपदेश कि—"बेटा, जान दे देना पर अपने घराने की आन मत जाने देना" उसे हर समय सचेत करता रहता था। भला छत्रसाल मुग़ल-साम्राज्य की अधीनता कब स्वीकार करने वाला था। वह अकेला ही औरंगज़ेब के विरुद्ध जुट गया और यत्रतत्र घूम-घूम कर जागीरदारों को देशभक्ति तथा स्वतन्त्रता का महत्त्व समझाने लगा। औरंगज़ेब के भय से

बुन्देलों की जन्मभूमि होने के कारण बड़ा प्रसिद्ध है। इतिहास-प्रसिद्ध-वीर लड़ाके आल्हा-ऊदल की जन्मभूमि महोबा नगर इसी बुन्देलखण्ड में है। इसी महोबा ने हमारे चरितनायक वीरवर छत्रसाल को भी जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त किया था।

आज से लगभग तीन शताब्दी पूर्व महोबा एक छोटी-सी जागीर थी और प्रबल पराक्रमी वीरवर चम्पतराय इसका शासन करते थे। इन्हीं चम्पतराय के घर में छत्रसाल का जन्म हुआ। उन दिनों देश में पढ़ना-लिखना इतना आवश्यक न समझा जाता था कि कोई व्यक्ति अपनी आयु का आधा भाग उसी में व्यतीत करदे। उस समय लोगों को, विशेषकर क्षत्रियों को, इतना अवकाश कहाँ था, कि वे अपने बालकों को पच्चीस-तीस साल की आयु तक पढ़ाते। पढ़ना तो दूर, उन्हें उन दिनों निश्चिन्त भाव से बैठ कर रोटी खाने तक का अवसर न मिलता था। दिन-रात मुसलमानों से लड़ाइयाँ छिड़ी रहती थीं। घोड़ों की पीठ ही वीर क्षत्रियों का घर था। उनका खाना-पीना, सोना-जागना, पूजा-पाठ सब कुछ घोड़ों की कमर पर ही होता था। स्त्री-बच्चे तक उन्हें लड़ाई के मैदान में साथ रखने पड़ते थे। बालक छत्रसाल को भी छोटी आयु से ही अपने पिता के साथ प्रायः रणभूमि में ही रहना पड़ा था। यही कारण था कि छत्रसाल के हृदय में वीरता और स्वतन्त्रता के भाव पूर्णरूप से भर गए थे। छत्रसाल देखता था कि उसके पिता कठिन-से-कठिन कष्ट और भारी-से भारी विपत्ति आने पर भी स्वाधीनता हाथ से नहीं जाने देना चाहते। वह स्वतन्त्रता के पीछे ऐसे पागल हैं कि उन्हें उसके आगे घर-बार, स्त्री-बच्चे तो अलग रहे, अपने प्राणों तक की परवा नहीं है, दिन-रात स्वदेश-रक्षा की धुन में मस्त रहते हैं।

इन सब बातों से छत्रसाल भी स्वतन्त्रता देवी के अनन्य भक्त और पक्के पुजारी बन गए। पिता के आदर्श जीवन का उन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह बूढ़े होकर अस्सी साल की आयु तक बराबर स्वाधीनता के लिए युद्ध करते रहे।

उस समय बुन्देलखण्ड के राजा लोग, औरंगज़ेब के प्रताप और प्रभाव से अभिभूत हो, अपने पूर्व पुरुषाओं के रक्त से सींची हुई स्वतन्त्रता-वल्लरी को नष्ट-भ्रष्ट करा चुके थे। केवल चम्पतराय ही थे, जो अब भी प्राण-पण से आत्म-गौरव और स्वाधीनता की रक्षा कर रहे थे। कोई भी राजा या जागीरदार धन या सेना से तो क्या बातों तक से चम्पतराय की सहायता न करता था। आख़िर चम्पतराय शक्तिसम्पन्न औरंगज़ेब के आगे कब तक टिक सकते थे। अन्ततः युद्ध में लड़ते-लड़ते वीरवर चम्पतराय वीरगति को प्राप्त हो गए।

पिता का स्वर्गवास होते ही उनकी कीर्ति-रक्षा का कठिन कर्त्तव्य-भार छत्रसाल के कंधों पर आ पड़ा। वह वीर शीघ्र अपनी शक्ति संघटित कर तुरन्त मुग़ल-सम्राट् औरंगज़ेब से लोहा लेने के लिए सन्नद्ध हो गया। छत्रसाल को अपने पूर्वजों की मान-मर्यादा का पूरा ध्यान था। उसके पिता का उपदेश कि—"बेटा, जान दे देना पर अपने घराने की आन मत जाने देना" उसे हर समय सचेत करता रहता था। भला छत्रसाल मुग़ल-साम्राज्य की अधीनता कब स्वीकार करने वाला था। वह अकेला ही औरंगज़ेब के विरुद्ध जुट गया और यत्रतत्र घूम-घूम कर जागीरदारों को देशभक्ति तथा स्वतन्त्रता का महत्त्व समझाने लगा। औरंगज़ेब के भय से

बुन्देलों की जन्मभूमि होने के कारण बड़ा प्रसिद्ध है। इतिहास-प्रसिद्ध-वीर लड़ाके आल्हा-ऊदल की जन्मभूमि महोवा नगर इसी बुन्देलखण्ड में है। इसी महोवा ने हमारे चरितनायक वीरवर छत्रसाल को भी जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त किया था।

आज से लगभग तीन शताब्दी पूर्व महोवा एक छोटी-सी जागीर थी और प्रबल पराक्रमी वीरवर चम्पतराय इसका शासन करते थे। इन्हीं चम्पतराय के घर में छत्रसाल का जन्म हुआ। उन दिनों देश में पढ़ना-लिखना इतना आवश्यक न समझा जाता था कि कोई व्यक्ति अपनी आयु का आधा भाग उसी में व्यतीत करदे। उस समय लोगों को, विशेषकर क्षत्रियों को, इतना अवकाश कहाँ था, कि वे अपने बालकों को पच्चीस-तीस साल की आयु तक पढ़ाते। पढ़ना तो दूर, उन्हें उन दिनों निश्चिन्त भाव से बैठ कर रोटी खाने तक का अवसर न मिलता था। दिन-रात मुसलमानों से लड़ाइयाँ छिड़ी रहती थीं। घोड़ों की पीठ ही वीर क्षत्रियों का घर था। उनका खाना-पीना, सोना-जागना, पूजा-पाठ सब कुछ घोड़ों की कमर पर ही होता था। स्त्री-बच्चे तक उन्हें लड़ाई के मैदान में साथ रखने पड़ते थे। बालक छत्रसाल को भी छोटी आयु से ही अपने पिता के साथ प्रायः रणभूमि में ही रहना पड़ा था। यही कारण था कि छत्रसाल के हृदय में वीरता और स्वतन्त्रता के भाव पूर्णरूप से भर गए थे। छत्रसाल देखता था कि उसके पिता कठिन-से-कठिन कष्ट और भारी-से भारी विपत्ति आने पर भी स्वाधीनता हाथ से नहीं जाने देना चाहते। वह स्वतन्त्रता के पीछे ऐसे पागल हैं कि उन्हें उसके आगे घर-बार, स्त्री-बच्चे तो अलग रहे, अपने प्राणों तक की परवा नहीं है, दिन-रात स्वदेश-रक्षा की धुन में मस्त रहते हैं।

इन सब बातों से छत्रसाल भी स्वतन्त्रता देवी के अनन्य भक्त और पक्के पुजारी बन गए। पिता के आदर्श जीवन का उन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह बूढ़े होकर अस्सी साल की आयु तक बराबर स्वाधीनता के लिए युद्ध करते रहे।

उस समय बुन्देलखण्ड के राजा लोग, औरंगज़ेब के प्रताप और प्रभाव से अभिभूत हो, अपने पूर्व पुरुषाओं के रक्त से सींची हुई स्वतन्त्रता-वल्लरी को नष्ट-भ्रष्ट करा चुके थे। केवल चम्पतराय ही थे, जो अब भी प्राण-पण से आत्म-गौरव और स्वाधीनता की रक्षा कर रहे थे। कोई भी राजा या जागीरदार धन या सेना से तो क्या बातों तक से चम्पतराय की सहायता न करता था। आख़िर चम्पतराय शक्तिसम्पन्न औरंगज़ेब के आगे कब तक टिक सकते थे। अन्ततः युद्ध में लड़ते-लड़ते वीरवर चम्पतराय वीरगति को प्राप्त हो गए।

पिता का स्वर्गवास होते ही उनकी कीर्ति-रक्षा का कठिन कर्त्तव्य-भार छत्रसाल के कंधों पर आ पड़ा। वह वीर शीघ्र अपनी शक्ति संघटित कर तुरन्त मुग़ल-सम्राट् औरंगज़ेब से लोहा लेने के लिए सन्नद्ध हो गया। छत्रसाल को अपने पूर्वजों की मान-मर्यादा का पूरा ध्यान था। उसके पिता का उपदेश कि—"बेटा, जान दे देना पर अपने घराने की आन मत जाने देना" उसे हर समय सचेत करता रहता था। भला छत्रसाल मुग़ल-साम्राज्य की अधीनता कब स्वीकार करने वाला था। वह अकेला ही औरंगज़ेब के विरुद्ध जुट गया और यत्रतत्र घूम-घूम कर जागीरदारों को देशभक्ति तथा स्वतन्त्रता का महत्त्व समझाने लगा। औरंगज़ेब के भय से

बुन्देलों की जन्मभूमि होने के कारण बड़ा प्रसिद्ध है। इतिहास-प्रसिद्ध-वीर लड़ाके आल्हा-ऊदल की जन्मभूमि महोवा नगर इसी बुन्देलखण्ड में है। इसी महोवा ने हमारे चरितनायक वीरवर छत्रसाल को भी जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त किया था।

आज से लगभग तीन शताब्दी पूर्व महोवा एक छोटी-सी जागीर थी और प्रबल पराक्रमी वीरवर चम्पतराय इसका शासन करते थे। इन्हीं चम्पतराय के घर में छत्रसाल का जन्म हुआ। उन दिनों देश में पढ़ना-लिखना इतना आवश्यक न समझा जाता था कि कोई व्यक्ति अपनी आयु का आधा भाग उसी में व्यतीत करदे। उस समय लोगों को, विशेषकर क्षत्रियों को, इतना अवकाश कहाँ था, कि वे अपने बालकों को पच्चीस-तीस साल की आयु तक पढ़ाते। पढ़ना तो दूर, उन्हें उन दिनों निश्चिन्त भाव से बैठ कर रोटी खाने तक का अवसर न मिलता था। दिन-रात मुसलमानों से लड़ाइयाँ छिड़ी रहती थीं। घोड़ों की पीठ ही वीर क्षत्रियों का घर था। उनका खाना-पीना, सोना-जागना, पूजा-पाठ सब कुछ घोड़ों की कमर पर ही होता था। स्त्री-बच्चे तक उन्हें लड़ाई के मैदान में साथ रखने पड़ते थे। बालक छत्रसाल को भी छोटी आयु से ही अपने पिता के साथ प्रायः रणभूमि में ही रहना पड़ा था। यही कारण था कि छत्रसाल के हृदय में वीरता और स्वतन्त्रता के भाव पूर्णरूप से भर गए थे। छत्रसाल देखता था कि उसके पिता कठिन-से-कठिन कष्ट और भारी-से भारी विपत्ति आने पर भी स्वाधीनता हाथ से नहीं जाने देना चाहते। वह स्वतन्त्रता के पीछे ऐसे पागल हैं कि उन्हें उसके आगे घर-बार, स्त्री-बच्चे तो अलग रहे, अपने प्राणों तक की परवा नहीं है, दिन-रात स्वदेश-रक्षा की धुन में मस्त रहते हैं।

इन सब बातों से छत्रसाल भी स्वतन्त्रता देवी के अनन्य भक्त और पक्के पुजारी बन गए। पिता के आदर्श जीवन का उन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह बूढ़े होकर अस्सी साल की आयु तक बराबर स्वाधीनता के लिए युद्ध करते रहे।

उस समय बुन्देलखण्ड के राजा लोग, औरंगज़ेब के प्रताप और प्रभाव से अभिभूत हो, अपने पूर्व पुरुषाओं के रक्त से सींची हुई स्वतन्त्रता-वल्लरी को नष्ट-भ्रष्ट करा चुके थे। केवल चम्पतराय ही थे, जो अब भी प्राण-पण से आत्म-गौरव और स्वाधीनता की रक्षा कर रहे थे। कोई भी राजा या जागीरदार धन या सेना से तो क्या बातों तक से चम्पतराय की सहायता न करता था। आखिर चम्पतराय शक्तिसम्पन्न औरंगज़ेब के आगे कब तक टिक सकते थे। अन्ततः युद्ध में लड़ते-लड़ते वीरवर चम्पतराय वीरगति को प्राप्त हो गए।

पिता का स्वर्गवास होते ही उनकी कीर्ति-रक्षा का कठिन कर्त्तव्य-भार छत्रसाल के कंधों पर आ पड़ा। वह वीर शीघ्र अपनी शक्ति संघटित कर तुरन्त मुग़ल-सम्राट् औरंगज़ेब से लोहा लेने के लिए सन्नद्ध हो गया। छत्रसाल को अपने पूर्वजों की मान-मर्यादा का पूरा ध्यान था। उसके पिता का उपदेश कि—"बेटा, जान दे देना पर अपने घराने की आन मत जाने देना" उसे हर समय सचेत करता रहता था। भला छत्रसाल मुग़ल-साम्राज्य की अधीनता कब स्वीकार करने वाला था। वह अकेला ही औरंगज़ेब के विरुद्ध जुट गया और यत्रतत्र घूम-घूम कर जागीरदारों को देशभक्ति तथा स्वतन्त्रता का महत्त्व समझाने लगा। औरंगज़ेब के भय से

कोई व्यक्ति छत्रसाल की बात भी सुनने को तय्यार न होता था, पर वह वीर बराबर अपनी धुन में लगा ही रहा।

उन्हीं दिनों महाराष्ट्र देश में छत्रपति शिवाजी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए मुग़लों से लड़ रहे थे, उनको अपने कार्य में सफलता भी मिली थी। छत्रसाल ने सोचा कि मुझे भी वीरवर शिवाजी से सम्मति लेनी चाहिए। वह अवश्य ही कोई ऐसी युक्ति बतावेंगे, जिसका अनुसरण करने से मुझे भी शत्रुओं पर विजय प्राप्त हो सकेगी। यह निश्चय कर छत्रसाल तुरन्त पूना के लिए चल दिये। सच्चे वीर कर्त्तव्य-पथ में आने वाली विपत्तियों की तनक भी परवा नहीं करते। इसी नियम के अनुसार छत्रसाल भी लगभग पाँच सौ कोस की लम्बी यात्रा के लिए बिना आगा-पीछा सोचे बराबर बढ़े ही चले गये। उन्होंने निर्जन वन-पर्वतों में होकर जाने वाले मार्ग की कठिनाइयों को सोचा तक नहीं। मार्ग में हिंस्र वन-पशुओं और चोर-डाकुओं का सामना होने पर कैसे बीतेगी, इसका विचार भी न किया। देश-भर में फैले हुए मुग़ल-सैनिकों और उनके गुप्तचरों से बचकर पूना तक पहुँच सकूँगा या नहीं, इसका भी कुछ ध्यान नहीं किया। केवल सत्रह वर्ष का वीर बालक छत्रसाल अपनी तलवार लेकर भगवान् के भरोसे घर से निकल पड़ा।

जो स्वयं अपने ऊपर भरोसा कर ध्येय पूरा करने के लिए अग्रसर होते हैं, भगवान् उनकी अवश्य सहायता करते हैं। अन्त में छत्रसाल भी मार्ग की कठिनाइयों को झेलते, विपत्तियों को ठेलते तथा औरंगज़ेब के गुप्तचरों और सैनिकों की आँखों में धूल झोंकते सिंहगढ़ पहुँच गये। वहाँ छत्रसाल ने शिवाजी को अपने आने का कारण बताया और निज लक्ष्य-सिद्धि

के लिए सम्मति माँगी। शिवाजी ने छत्रसाल के आकार-प्रकार और हाव-भाव का सूक्ष्मता से अध्ययन किया और जब निश्चय कर लिया कि निस्सन्देह यह युवक होनहार एवं सच्चा स्वदेश-भक्त है, तो उसे अनेक अमूल्य सम्मतियाँ प्रदान कीं। सम्मतियों के अतिरिक्त शिवाजी ने आशीर्वाद-स्वरूप एक तलवार भी अपने हाथों से छत्रसाल की कमर में बाँधी तथा आवश्यकता पड़ने पर सेना आदि की सहायता प्रदान करने का वचन भी दिया।

महाराष्ट्र-केसरी शिवाजी से आशीर्वाद और प्रोत्साहन प्राप्त कर छत्रसाल महोबा लौट आए। वहाँ आते ही उन्होंने समस्त बुन्देलखण्ड के जागीरदारों को मातृ-भूमि की मान-मर्यादा सुरक्षित रखने के लिए प्रोत्साहित तथा संगठित करना प्रारम्भ किया। जिस प्रकार शिवाजी के हृदय में स्वजाति तथा स्वदेश के प्रति प्रेम उत्पन्न करने वाले समर्थ गुरु राम-दासजी थे, उसी भाँति छत्रसाल को महाप्रभु प्राणनाथ मिल गये। बुन्देलों के संगठित करने में छत्रसाल को प्राणनाथ से बहुत सहायता मिली। प्राणनाथजी जगह-जगह जाकर लोगों को उपदेश देते और उनमें स्वदेश-प्रेम के पुनीत भाव भरते थे। उन्होंने बुन्देले सरदारों को उनके पूर्वजों की वीरता का बखान कर-कर उत्तेजित और उत्साहित किया। इस प्रकार प्राणनाथ और छत्रसाल दोनों के सतत उद्योग और अध्यव-साय से समस्त बुन्देलखण्ड में मातृ-भूमि के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगई। लोगों में वीरता और स्वाभिमान के भाव जाग उठे। देश-प्रेम के मतवाले और स्वतन्त्रता के पुजारी वीर बुन्देले आ-आकर छत्रसाल की सेना में सम्मिलित होने लगे, और दिनोंदिन उनका सैन्य-बल बढ़ने लगा।

कोई व्यक्ति छत्रसाल की बात भी सुनने को तय्यार न होता था, पर वह वीर बराबर अपनी धुन में लगा ही रहा।

उन्हीं दिनों महाराष्ट्र देश में छत्रपति शिवाजी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए मुग़लों से लड़ रहे थे, उनको अपने कार्य में सफलता भी मिली थी। छत्रसाल ने सोचा कि मुझे भी वीरवर शिवाजी से सम्मति लेनी चाहिए। वह अवश्य ही कोई ऐसी युक्ति बतावेंगे, जिसका अनुसरण करने से मुझे भी शत्रुओं पर विजय प्राप्त हो सकेगी। यह निश्चय कर छत्रसाल तुरन्त पूना के लिए चल दिये। सच्चे वीर कर्त्तव्य-पथ में आने वाली विपत्तियों की तनक भी परवा नहीं करते। इसी नियम के अनुसार छत्रसाल भी लगभग पाँच सौ कोस की लम्बी यात्रा के लिए बिना आगा-पीछा सोचे बराबर बढ़े ही चले गये। उन्होंने निर्जन वन-पर्वतों में होकर जाने वाले मार्ग की कठिनाइयों को सोचा तक नहीं। मार्ग में हिंस्र वन-पशुओं और चोर-डाकुओं का सामना होने पर कैसे बीतेगी, इसका विचार भी न किया। देश-भर में फैले हुए मुग़ल-सैनिकों और उनके गुप्तचरों से बचकर पूना तक पहुँच सकूँगा या नहीं, इसका भी कुछ ध्यान नहीं किया। केवल सत्रह वर्ष का वीर बालक छत्रसाल अपनी तलवार लेकर भगवान् के भरोसे घर से निकल पड़ा।

जो स्वयं अपने ऊपर भरोसा कर ध्येय पूरा करने के लिए अग्रसर होते हैं, भगवान् उनकी अवश्य सहायता करते हैं। अन्त में छत्रसाल भी मार्ग की कठिनाइयों को झेलते, विपत्तियों को ठेलते तथा औरंगज़ेब के गुप्तचरों और सैनिकों की आँखों में धूल झोंकते सिंहगढ़ पहुँच गये। वहाँ छत्रसाल ने शिवाजी को अपने आने का कारण बताया और निज लक्ष्य-सिद्धि

के लिए सम्मति माँगी। शिवाजी ने छत्रसाल के आकार-प्रकार और हाव-भाव का सूक्ष्मता से अध्ययन किया और जब निश्चय कर लिया कि निस्सन्देह यह युवक होनहार एवं सच्चा स्वदेश-भक्त है, तो उसे अनेक अमूल्य सम्मतियाँ प्रदान कीं। सम्मतियों के अतिरिक्त शिवाजी ने अशीर्वाद-स्वरूप एक तलवार भी अपने हाथों से छत्रसाल की कमर में बाँधी तथा आवश्यकता पड़ने पर सेना आदि की सहायता प्रदान करने का वचन भी दिया।

महाराष्ट्र-केसरी शिवाजी से आशीर्वाद और प्रोत्साहन प्राप्त कर छत्रसाल महोबा लौट आए। वहाँ आते ही उन्होंने समस्त बुन्देलखण्ड के जागीरदारों को मातृ-भूमि की मान-मर्यादा सुरक्षित रखने के लिए प्रोत्साहित तथा संगठित करना प्रारम्भ किया। जिस प्रकार शिवाजी के हृदय में स्वजाति तथा स्वदेश के प्रति प्रेम उत्पन्न करने वाले समर्थ गुरु राम-दासजी थे, उसी भाँति छत्रसाल को महाप्रभु प्राणनाथ मिल गये। बुन्देलों के संघटित करने में छत्रसाल को प्राणनाथ से बहुत सहायता मिली। प्राणनाथजी जगह-जगह जाकर लोगों को उपदेश देते और उनमें स्वदेश-प्रेम के पुनीत भाव भरते थे। उन्होंने बुन्देले सरदारों को उनके पूर्वजों की वीरता का बखान कर-कर उत्तेजित और उत्साहित किया। इस प्रकार प्राणनाथ और छत्रसाल दोनों के सतत उद्योग और अध्यव-साय से समस्त बुन्देलखण्ड में मातृ-भूमि के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगई। लोगों में वीरता और स्वाभिमान के भाव जाग उठे। देश-प्रेम के मतवाले और स्वतन्त्रता के पुजारी वीर बुन्देले आ-आकर छत्रसाल की सेना में सम्मिलित होने लगे, और दिनोंदिन उनका सैन्य-बल बढ़ने लगा।

कोई व्यक्ति छत्रसाल की बात भी सुनने को तय्यार न होता था, पर वह वीर बराबर अपनी धुन में लगा ही रहा।

उन्हीं दिनों महाराष्ट्र देश में छत्रपति शिवाजी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए मुग़लों से लड़ रहे थे, उनको अपने कार्य में सफलता भी मिली थी। छत्रसाल ने सोचा कि मुझे भी वीरवर शिवाजी से सम्मति लेनी चाहिए। वह अवश्य ही कोई ऐसी युक्ति बतावेंगे, जिसका अनुसरण करने से मुझे भी शत्रुओं पर विजय प्राप्त हो सकेगी। यह निश्चय कर छत्रसाल तुरन्त पूना के लिए चल दिये। सच्चे वीर कर्त्तव्य-पथ में आने वाली विपत्तियों की तनक भी परवा नहीं करते। इसी नियम के अनुसार छत्रसाल भी लगभग पाँच सौ कोस की लम्बी यात्रा के लिए बिना आगा-पीछा सोचे बराबर बढ़े ही चले गये। उन्होंने निर्जन वन-पर्वतों में होकर जाने वाले मार्ग की कठि-नाइयों को सोचा तक नहीं। मार्ग में हिंस्र वन-पशुओं और चोर-डाकुओं का सामना होने पर कैसे बीतेगी, इसका विचार भी न किया। देश-भर में फैले हुए मुग़ल-सैनिकों और उनके गुप्तचरों से बचकर पूना तक पहुँच सकूँगा या नहीं, इसका भी कुछ ध्यान नहीं किया। केवल सत्रह वर्ष का वीर बालक छत्रसाल अपनी तलवार लेकर भगवान् के भरोसे घर से निकल पड़ा।

जो स्वयं अपने ऊपर भरोसा कर ध्येय पूरा करने के लिए अग्रसर होते हैं, भगवान् उनकी अवश्य सहायता करते हैं। अन्त में छत्रसाल भी मार्ग की कठिनाइयों को झेलते, विपत्तियों को ठेलते तथा औरंगज़ेब के गुप्तचरों और सैनिकों की आँखों में धूल झोंकते सिंहगढ़ पहुँच गये। वहाँ छत्रसाल ने शिवाजी को अपने आने का कारण बताया और निज लक्ष्य-सिद्धि

के लिए सम्मति माँगी। शिवाजी ने छत्रसाल के आकार-प्रकार और हाव-भाव का सूक्ष्मता से अध्ययन किया और जब निश्चय कर लिया कि निस्सन्देह यह युवक होनहार एवं सच्चा स्वदेश-भक्त है, तो उसे अनेक अमूल्य सम्मतियाँ प्रदान कीं। सम्मतियों के अतिरिक्त शिवाजी ने आशीर्वाद-स्वरूप एक तलवार भी अपने हाथों से छत्रसाल की कमर में बाँधी तथा आवश्यकता पड़ने पर सेना आदि की सहायता प्रदान करने का वचन भी दिया।

महाराष्ट्र-केसरी शिवाजी से आशीर्वाद और प्रोत्साहन प्राप्त कर छत्रसाल महोबा लौट आए। वहाँ आते ही उन्होंने समस्त बुन्देलखण्ड के जागीरदारों को मातृ-भूमि की मान-मर्यादा सुरक्षित रखने के लिए प्रोत्साहित तथा संगठित करना प्रारम्भ किया। जिस प्रकार शिवाजी के हृदय में स्वजाति तथा स्वदेश के प्रति प्रेम उत्पन्न करने वाले समर्थ गुरु राम-दासजी थे, उसी भाँति छत्रसाल को महाप्रभु प्राणनाथ मिल गये। बुन्देलों के संगठित करने में छत्रसाल को प्राणनाथ से बहुत सहायता मिली। प्राणनाथजी जगह-जगह जाकर लोगों को उपदेश देते और उनमें स्वदेश-प्रेम के पुनीत भाव भरते थे। उन्होंने बुन्देले सरदारों को उनके पूर्वजों की वीरता का बखान कर-कर उत्तेजित और उत्साहित किया। इस प्रकार प्राणनाथ और छत्रसाल दोनों के सतत उद्योग और अध्यव-साय से समस्त बुन्देलखण्ड में मातृ-भूमि के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगई। लोगों में वीरता और स्वाभिमान के भाव जाग उठे। देश-प्रेम के मतवाले और स्वतन्त्रता के पुजारी वीर बुन्देले आ-आकर छत्रसाल की सेना में सम्मिलित होने लगे, और दिनोंदिन उनका सैन्य-बल बढ़ने लगा।

अब छत्रसाल ने अपने समीपवर्ती छोटे-मोटे मुग़ल सूबेदारों पर आक्रमण करना आरम्भ किया। पहली लड़ाई उन्होंने सिरोंज के सूबेदार पर की। मुग़ल-सैनिकों को स्वप्न में भी ध्यान न था कि एक साधारण असहाय, शक्ति-शून्य जागीरदार इतना साहस कर सकेगा। वे छत्रसाल की सेना से अचानक आक्रान्त हो पहले तो कुछ स्तम्भित और चकित-से रह गए परन्तु फिर बुन्देलों से लड़ने के लिए मैदान में आए। घमासान युद्ध होने लगा, लोहे से लोहा बज उठा, वीरों के अंग-प्रत्यंग कट-कट कर गिरने लगे और रणभूमि में रक्त की नदियाँ बह चलीं। बुन्देले वीर यद्यपि आकार-प्रकार में मुग़लों से छोटे थे, पर साहस और पराक्रम में उनसे कहीं बढ़े-चढ़े थे। एक-एक बुन्देला पाँच-पाँच और सात-सात मुग़लों को मारकर वीरगति प्राप्त करता था। इस प्रकार राजपूतों की शूरवीरता देखकर यवनों की हिम्मत टूट गई। मातृ-भूमि पर मर-मिटने और स्वाभिमान के रक्षार्थ बलि होने वाले वीर बुन्देलों के आगे, वेतनभोगी, वृथापुष्ट मुग़ल-सैनिक ठहर न सके। फिर क्या था, विजयलक्ष्मी छत्रसाल के हाथ लगी।

पहले ही प्रयत्न में आशातीत सफलता प्राप्त होने से छत्रसाल का साहस और भी बढ़ गया। साथ ही दूसरे जागीरदारों को भी हिम्मत हो गई और अब वे भी छत्रसाल के साथ सम्मिलित होने लगे। एक दो आक्रमणों से ही मुसलमानों पर छत्रसाल का आतङ्क छागया। अब वह मुग़लों के लिए यमदूत था भयंकर भूत होगया था। जिधर वीर बुन्देला अपना घोड़ा मोड़ता, उधर ही शत्रु प्राण लेकर भागने लगते। यहाँ तक कि यवन-सिपाही छत्रसाल का नाम सुनकर काँप उठते थे। अन्य अनेक बुन्देले वीरों के सम्मिलित हो जाने से छत्रसाल

की सेना और प्रताप-परिधि का उत्तरोत्तर विस्तार होने लगा।

धीरे-धीरे छत्रसाल के वैभव-विस्तार का समाचार दिल्ली-सम्राट् औरंगज़ेब के कानों तक भी पहुँचा। मुगल बादशाह छत्रसाल की इस अभिवृद्धि को कैसे सहन कर सकता था! भला औरंगज़ेब के होते हुए, एक राजपूत का यह साहस कि वह इस प्रकार सिर उठावे! दिल्लीश्वर औरंगज़ेब छत्रसाल की गुणगाथा सुनते ही क्रोध से जल उठा। उसने तुरन्त अपने सेनापति तहवरखाँ को बुन्देलों पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही तहवरख़ाँ बहुत बड़ी फौज लेकर बुन्देलखण्ड की ओर चल पड़ा। दिल्लीश्वर की विशाल वाहिनी बरसाती महानदी के समान उमड़ती और कोलाहल करती हुई महोबा की ओर चली। मार्ग में जो नगर या ग्राम आये उन्हें सैनिकों ने लूट-खसोट कर उजाड़ दिया। बड़े-बड़े देवमन्दिरों को भूमिसात् कर दिया। हरी-भरी लहलहाती हुई फसल मिट्टी में मिला दी। इस भाँति आतङ्क स्थापित करती हुई मुसलमानी सेना ने बुन्देलखण्ड की वीर-भूमि में प्रवेश किया।

उधर महाराज छत्रसाल को जब तहवरखाँ के चढ़ आने की सूचना मिली तो वे भी यवनों से लोहा लेने के लिए तैयारी करने लगे। उन्होंने बड़ी शीघ्रता से अपनी सेना एकत्र करनी शुरू की। छत्रसाल के पास इतनी सेना कहाँ थी, जो खुले मैदान भयङ्कर यवन-दल से टक्कर लेती! बुन्देलों ने मुगलों के साथ कौशल से ही युद्ध करना उचित समझा। वे दुर्गम पहाड़ियों में ऐसे स्थानों पर बैठ गये जहाँ से मुसलमान सिपाहियों पर तो आक्रमण किये जा

सकें परन्तु वे स्वयं सुरक्षित रहें। इस भाँति समुचित व्यवस्था कर छत्रसाल भी यवनों से टक्कर लेने को तैयार हो गये।

यथावसर मुग़ल-सेना महोबा के निकट पहुँची। वह ऊबड़-खाबड़ घाटियों और कण्टकाकीर्ण झाड़ियों को पार करती हुई निश्चिन्त भाव से महोबा की ओर बढ़ी चली जा रही थी कि अकस्मात् इधर-उधर की पहाड़ियों पर से गोलियाँ बरसने लगीं। मुग़ल-सैनिकों के सारे सुख-स्वप्न नष्ट होगये, उन्हें लेने के देने पड़ गए। पहाड़ियों पर से चलाई हुई राजपूतों की गोलियाँ ऐसी अचूक बैठती थीं कि प्रत्येक गोली एक-दो को ठंडा करके ही ठंडी होती थी। जब तक यवन-सेना सम्हलकर शत्रुओं के मुक़ाबले को तैयार हुई, तब तक उसका अधिकांश राजपूतों ने यम-धाम भेज दिया। यवन-सैनिक सम्हल कर भी कुछ न कर पाए। राजपूतों की ओर से दाग़ी गई एक-एक बाढ़ में सैकड़ों साथियों को लुढ़कते देख, मुसलमानों के पैर उखड़ गए, और वे जान लेकर भाग निकले। तहवरख़ाँ ने सेना को भागने से बहुते रोकना चाहा, पर उसका सब प्रयत्न निष्फल हुआ। यवन सिपाही छत्रसाल की वीरता का हाल सुनकर कुछ तो पहले ही से डरे हुए थे, अब उनसे मुक़ाबला होने पर तो उनकी रही-सही हिम्मत भी टूट गई और वे मैदान से ऐसे भागे कि दिल्ली पहुँच कर ही दम लिया।

औरंगज़ेब ने तहवरख़ाँ की अधीनता में भेजी अपनी फ़ौज के भाग आने का समाचार बड़े आश्चर्य और दुःख से सुना। पहले तो उसे विश्वास ही न हुआ, वह सोचने लगा—"मेरी इतनी बड़ी सेना को छत्रसाल जैसा मामूली जागीरदार हराकर भगादे; यह कैसे हो सकता है। ओह! उस

काफ़िर की ऐसी हिमाक़त ! बुन्देलों की यह हिम्मत !! खुदा न करे, अगर यह ख़बर सच निकली तो मेरे लिए बड़े शर्म की बात है। अगर इन काफ़िरों की ताक़त इसी तरह बढ़ती गई तो थोड़े ही दिनों में बुन्देलखण्ड पर ही नहीं, सारे हिन्दुस्तान पर ये लोग कब्ज़ा कर लेंगे, और मुग़लों को यहाँ से मार कर निकाल देंगे। अच्छा ठहरो, इन काफ़िरों की अक़्ल अभी ठीक किए देता हूँ, इन पहाड़ी चूहों को इनकी गुस्ताख़ी का वह मज़ा चखाया जाय कि कभी याद करें। इस बार इन्हें ऐसा कुचला जाय कि ये फिर सदियों तक सिर उठाने लायक़ ही न रहें।" अस्तु,

औरंगज़ेब ने एक बहुत बड़ी सेना अब्दुलसमद सेनापति के साथ बुन्देलों का दमन करने के लिए भेजी। उधर जब छत्रसाल ने सुना कि अबकी बार औरंगज़ेब की बहुत बड़ी फ़ौज महोबा को नष्ट-भ्रष्ट करने आरही है, तो उन्होंने भी अपना संघटन शुरू कर दिया। सेना में नये योद्धा भरती किए जाने लगे। छत्रसाल को निश्चय होगया था कि बुन्देलों का औरंगज़ेब के साथ यह अन्तिम युद्ध होगा। इस युद्ध में दो ही बात हो सकती हैं, या तो बुन्देलों का भाग्य-भानु पूर्ण रूप से जगमगाने लगेगा अथवा उनकी रही-सही ज्योति भी पराधीनता की काली घटाओं में विलीन होजायगी। औरंगज़ेब तथा छत्रसाल दोनों की सेनाएँ बेतवा नदी के किनारे डट गईं और अपनी-अपनी मोर्चाबन्दी करने लगीं। तोपों के मुँह शत्रुओं की ओर कर दिए गए। रेत से भरे हुए बड़े-बड़े थैलों को इकट्ठा कर दीवार-सी बनाली गई और उसके पीछे आवश्यक समर-सामग्री सहित कितने ही बन्दूक़वालों को खड़ा कर दिया। दोनों ओर की सेनाएँ सुसज्जित हो आक्रमण की आज्ञा के लिए प्रतीक्षा कर

सकें परन्तु वे स्वयं सुरक्षित रहें। इस भाँति समुचित व्यवस्था कर छत्रसाल भी यवनों से टक्कर लेने को तैयार हो गये।

यथावसर मुग़ल-सेना महोबा के निकट पहुँची। वह ऊबड़-खाबड़ घाटियों और कण्टकाकीर्ण झाड़ियों को पार करती हुई निश्चिन्त भाव से महोबा की ओर बढ़ी चली जा रही थी कि अकस्मात् इधर-उधर की पहाड़ियों पर से गोलियाँ बरसने लगीं। मुग़ल-सैनिकों के सारे सुख-स्वप्न नष्ट होगये, उन्हें लेने के देने पड़ गए। पहाड़ियों पर से चलाई हुई राजपूतों की गोलियाँ ऐसी अचूक बैठती थीं कि प्रत्येक गोली एक-दो को ठंडा करके ही ठंडी होती थी। जब तक यवन-सेना सम्हलकर शत्रुओं के मुक़ाबले को तैयार हुई, तब तक उसका अधिकांश राजपूतों ने यम-धाम भेज दिया। यवन-सैनिक सम्हल कर भी कुछ न कर पाए। राजपूतों की ओर से दाग़ी गई एक-एक बाढ़ में सैकड़ों साथियों को लुढ़कते देख, मुसलमानों के पैर उखड़ गए, और वे जान लेकर भाग निकले। तहवरखाँ ने सेना को भागने से बहुत रोकना चाहा, पर उसका सब प्रयत्न निष्फल हुआ। यवन सिपाही छत्रसाल की वीरता का हाल सुनकर कुछ तो पहले ही से डरे हुए थे, अब उनसे मुकाबला होने पर तो उनकी रही-सही हिम्मत भी टूट गई और वे मैदान से ऐसे भागे कि दिल्ली पहुँच कर ही दम लिया।

औरंगज़ेब ने तहवरख़ाँ की अधीनता में भेजी अपनी फ़ौज के भाग आने का समाचार बड़े आश्चर्य और दुःख से सुना। पहले तो उसे विश्वास ही न हुआ, वह सोचने लगा—'मेरी इतनी बड़ी सेना को छत्रसाल जैसा मामूली जागीरदार हराकर भगादे; यह कैसे हो सकता है। ओह! उस

काफ़िर की ऐसी हिमाकत ! बुन्देलों की यह हिम्मत !! खुदा न करे, अगर यह ख़बर सच निकली तो मेरे लिए बड़े शर्म की बात है। अगर इन काफ़िरों की ताक़त इसी तरह बढ़ती गई तो थोड़े ही दिनों में बुन्देलखण्ड पर ही नहीं, सारे हिन्दुस्तान पर ये लोग कब्ज़ा कर लेंगे, और मुग़लों को यहाँ से मार कर निकाल देंगे। अच्छा ठहरो, इन काफ़िरों की अक्ल अभी ठीक किए देता हूँ, इन पहाड़ी चूहों को इनकी गुस्ताख़ी का वह मज़ा चखाया जाय कि कभी याद करें। इस बार इन्हें ऐसा कुचला जाय कि ये फिर सदियों तक सिर उठाने लायक़ ही न रहें।" अस्तु,

औरंगज़ेब ने एक बहुत बड़ी सेना अब्दुलसमद सेनापति के साथ बुन्देलों का दमन करने के लिए भेजी। उधर जब छत्रसाल ने सुना कि अबकी बार औरंगज़ेब की बहुत बड़ी फ़ौज महोबा को नष्ट-भ्रष्ट करने आरही है, तो उन्होंने भी अपना संघटन शुरू कर दिया। सेना में नये योद्धा भरती किए जाने लगे। छत्रसाल को निश्चय होगया था कि बुन्देलों का औरंगज़ेब के साथ यह अन्तिम युद्ध होगा। इस युद्ध में दो ही बात हो सकती हैं, या तो बुन्देलों का भाग्य-भानु पूर्ण रूप से जगमगाने लगेगा अथवा उनकी रही-सही ज्योति भी पराधीनता की काली घटाओं में विलीन होजायगी। औरंगज़ेब तथा छत्रसाल दोनों की सेनाएँ बेतवा नदी के किनारे डट गईं और अपनी-अपनी मोर्चाबन्दी करने लगीं। तोपों के मुँह शत्रुओं की ओर कर दिए गए। रेत से भरे हुए बड़े-बड़े थैलों को इकट्ठा कर दीवार-सी बनाली गई और उसके पीछे आवश्यक समर-सामग्री सहित कितने ही बन्दूकवालों को खड़ा कर दिया। दोनों ओर की सेनाएँ सुसज्जित हो आक्रमण की आज्ञा के लिए प्रतीक्षा कर

रही थीं कि इतने में युद्ध सूचक संकेत किया गया। युद्ध आरम्भ होगया, दोनों ओर से गम्भीर जयघोष के साथ तोप-बन्दूकें आग उगलने लगीं। थोड़ी ही देर में बारूद के धुएँ से आकाश भर गया। तोपों के दिल-दहला देने वाले भीषण गर्जन और बन्दूकों के धूँ-धूँ शब्द से कानों के परदे फटने लगे। दोनों ही ओर के वीर गोले-गोलियों के लक्ष्य बन समरांगण में सोने लगे। जिधर से तोप के गोले निकल जाते उधर ही सैनिक लोटते चले जाते थे। अल्पकाल ही में बहुत-से सिपाही वीर-गति को प्राप्त होगए। लोथों पर लोथें पट गईं और रुधिर की नदियाँ बहने लगीं। चारों ओर मज्जा-मांस बिखरे देख, आकाश-मण्डल में गृद्ध, चील, कौए आदि पक्षियों के झुण्ड मँडलाने लगे। किसी की टाँग टूटी है तो किसी का सिर फूटा है, एक का हाथ टूट गया है तो दूसरे की अंतड़ियाँ निकल पड़ी हैं। जिसके तोप का गोला जमकर बैठ जाता, उसके शरीर के तो चिथड़े बिखर जाते थे। चारों ओर खून के फुहारे चलने से जीवित और मृत सभी रक्त-रंजित हो रहे थे। घायलों की करुणापूर्ण कराहट और मरते हुओं की चीख़-पुकार से हृदय भर आते थे। पर, वहाँ इतना अवकाश किसे था, जो इधर ध्यान देता। थोड़ी ही देर की मार-काट में दोनों दलों के बहुत-से वीरों का संहार होगया। राजपूत तो जान पर खेलकर लड़ते ही थे परन्तु इस बार शाही फ़ौज भी बड़ी हिम्मत से मैदान में डटी रही। पहले हारकर भाग जाने के कारण उस पर काफ़ी धिक्कार और डाँट-फटकार पड़ चुकी थी। साथही अबकी बार यह घोषणा भी करदी गई थी कि मैदान से पीठ दिखानेवाला तोप के गोले से उड़ा दिया जायगा।

बुन्देलों की बहुत-सी सेना काम आ गई, पर यवन अभी क़ाबू में नहीं आए, यह देखकर छत्रसाल ने इधर-उधर घूम फिरकर अपने योद्धाओं को फिर प्रोत्साहित किया। वह कभी सेना के इस भाग में आता और कभी उसमें जाता। जहाँ अपने सैनिकों को पराजित होते देखता वहीं तीर की तरह तुरन्त पहुँच जाता और सबको सम्हाल लेता। जिधर छत्रसाल पहुँच जाता, उधर ही यवन सैनिकों में खलबली मच जाती थी। वे घबराकर पीछे हटने और एक दूसरे पर गिरने लगते थे। वीर बुन्देलाधिपति को दूर से ही आता देख शत्रु-सेना काई की तरह फट जाती थी। जिधर छत्रसाल की तलवार घूम जाती उधर ही वह सफ़ की सफ़ का सफ़ाया कर देती थी। यद्यपि महाराज छत्रसाल तथा वीर बुन्देले बड़ी बहादुरी से लड़ रहे थे, तथापि टीड़ी-दल के समान मुग़ल-सेना के आगे अल्पसंख्यक राजपूत कब तक ठहरते। छत्रसाल ने अपने योद्धाओं को निराश और शिथिल होते देखा, तो सबको सम्बोधन करते हुए कहा—"वीरो, आज वह दिन आ पहुँचा है, जिस दिन के लिए हमारी माताओं ने हमें पैदा किया था। वीर राजपूत जिस अवसर की प्रतीक्षा में रहा करते हैं, वह सुयोग सौभाग्य से आज प्राप्त होगया है। इस समय मारने-मरने दोनों ही में हमारा कल्याण है। यदि शत्रुओं को पराजित कर दिया तब तो इस लोक में यश और सुख की प्राप्ति होगी, और यदि धर्म-रक्षा करते वीरगति प्राप्त हुई तो सीधे स्वर्ग जायँगे। जीतने पर हमारी मा-बहिन और गृह-देवियाँ पुष्पहारों के उपहार प्रदान कर हमारा सत्कार करेंगी और मरने पर स्वर्ग में देवांगनाओं द्वारा पारिजात-पुष्पों की मालाओं से हमारा स्वागत किया जायगा। आइयो,

यह तो तुम जानते ही हो कि यह संसार नाशवान है। इसमें जो आया है, वह एक दिन अवश्य जायगा। जिसने जन्म लिया है उसका मरण भी निश्चित है। जब हमें मरना अवश्य है, तो क्यों न देश-धर्म की रक्षा करते हुए, प्रसन्नतापूर्वक इस असार संसार से कूच करें। खाट पर पड़े-पड़े मरने में क्या बहादुरी है। वीरो, मुझे तुम पर पूर्ण विश्वास है, कि तुम सब मरते दम तक मैदान से पीछे पैर हटाने का नाम न लोगे। बहादुरो! तुम्हारे सामने ये तुर्क क्या चीज़ हैं। तुममें से हर एक योद्धा दस-दस यवनों के लिए भी भारी है। भला राजपूत वीरों का मुक़ाबला ये मुग़ल-लोग क्या करेंगे। अब क्या देर है, एक बार रणचण्डी का स्मरण करो, और हर-हर महादेव का गम्भीर घोष करते हुए शत्रुओं पर टूट पड़ो! बस, एक ही धावे में जीत तुम्हारे हाथ है। लो आओ, मैं तुम सब से आगे बढ़ता हूँ।"

महाराज छत्रसाल का आवेशपूर्ण भाषण सुन और उन्हें आगे बढ़ते देख राजपूतों में उत्साह की बिजली दौड़ गई। उन्होंने बन्दूकें पटक कर अपनी-अपनी तलवारें म्यानों से निकाल लीं और उछलते हुए आगे बढ़े। तोपों और बन्दूकों की तनक भी परवा न कर राजपूतों को तूफ़ान की तरह आगे बढ़ते देख, मुग़लों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वे अभी यह भी निश्चित न कर पाये थे कि, अब हमको क्या करना चाहिए, इतने में राजपूत वीर 'हर हर महादेव' का सिंहनाद करते हुए, उनके सिर पर पहुँच गए और मारकाट शुरू कर दी। एक दम तलवारें चलती देख, यवनों के होश उड़ गए और वे जब तक सम्हलें-सम्हलाएं तब तक उनमें से एक चौथाई सेना को राजपूतों ने काट डाला। वीर क्षत्रिय इस

समय साक्षात् रुद्र रूप धारण किए हुए थे, क्रोध के मारे उनकी आँखों से अँगारे बरस रहे थे। उनकी चमचमाती हुई रक्त-रंजित तलवारें जिस समय शत्रुओं के सिर पर नाचती थीं उस समय बिजली-सी कौंध जाती थी।

एक-एक राजपूत दस-दस और पन्द्रह-पन्द्रह यवनों को यमधाम भेज कर प्राणोत्सर्ग करता था। जहाँ-तहाँ राजपूतों के मुण्ड-विहीन रुण्ड भी तलवार चलाते दिखाई देते थे। कटे हुए सिरों में से भी 'मारो-मारो', 'काटो-काटो' की ध्वनि निकल रही थी। वीर बुन्देलों का ऐसा भीषण स्वरूप और प्रबल पराक्रम देख, यवनों की हिम्मत टूट गई और वे एक साथ मैदान छोड़ कर भाग निकले। सिपहसालार अब्दुल समद ने अपनी फ़ौज रोकने का भरसक प्रयत्न किया; मगर एक भी मुग़ल-सिपाही उसके रोके न रुका। राजपूतों ने भागती हुई शत्रु-सेना को दूर तक खदेड़ा और जब उन्हें विश्वास हो गया कि शत्रु अब फिर लौट कर आक्रमण नहीं करेंगे तब उनका पीछा छोड़ा। इस भाँति वीर बुन्देले विजय प्राप्त कर महोबा लौटे और समस्त बुन्देलखण्ड पर महाराजा छत्रसाल का एकछत्र राज्य हो गया।

इस विजय के पश्चात् छत्रसाल ने पन्ना शहर को बुन्देलखण्ड की राजधानी बनाया और वे सुखपूर्वक राज्य करने लगे। छत्रसाल के राज्य में प्रजा को सब प्रकार की सुविधाएँ थीं, वह खूब सुख-सम्पन्न थी। औरंगज़ेब पर दो बार विजय प्राप्त कर लेने से अन्य यवन-शासकों पर भी छत्रसाल की धाक जम गई, जिससे कोई उसके विरुद्ध सिर उठाने की हिम्मत ही न करता था। मुसलमानों के अत्याचार बन्द हो जाने से बुन्देलखण्ड में सर्वत्र शान्ति विराजने लगी। छत्र-

यह तो तुम जानते ही हो कि यह संसार नाशवान है इसमें जो आया है, वह एक दिन अवश्य जायगा। जिसने जन्म लिया है उसका मरण भी निश्चित है। जब हमें मरना अवश्य है, तो क्यों न देश-धर्म की रक्षा करते हुए, प्रसन्नतापूर्वक इस असार संसार से कूच करें। खाट पर पड़े-पड़े मरने में क्या बहादुरी है। वीरो, मुझे तुम पर पूर्ण विश्वास है, कि तुम सब मरते दम तक मैदान से पीछे पैर हटाने का नाम न लोगे। बहादुरो! तुम्हारे सामने ये तुर्क क्या चीज़ हैं। तुममें से हर एक योद्धा दस-दस यवनों के लिए भी भारी है। भला राजपूत वीरों का मुक़ाबला ये मुग़ल-लोग क्या करेंगे। अब क्या देर है, एक बार रणचण्डी का स्मरण करो, और हर-हर महादेव का गम्भीर घोष करते हुए शत्रुओं पर टूट पड़ो! बस, एक ही धावे में जीत तुम्हारे हाथ है। लो आओ, मैं तुम सब से आगे बढ़ता हूँ।"

महाराज छत्रसाल का आवेशपूर्ण भाषण सुन और उन्हें आगे बढ़ते देख राजपूतों में उत्साह की बिजली दौड़ गई। उन्होंने बन्दूकें पटक कर अपनी-अपनी तलवारें म्यानों से निकाल लीं और उछलते हुए आगे बढ़े। तोपों और बन्दूकों की तनक भी परवा न कर राजपूतों को तूफ़ान की तरह आगे बढ़ते देख, मुग़लों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वे अभी यह भी निश्चित न कर पाये थे कि, अब हमको क्या करना चाहिए, इतने में राजपूत वीर 'हर हर महादेव' का सिंहनाद करते हुए, उनके सिर पर पहुँच गए और मारकाट शुरू कर दी। एक दम तलवारें चलती देख, यवनों के होश उड़ गए और वे जब तक सम्हलें-सम्हलाएं तब तक उनमें से एक चौथाई सेना को राजपूतों ने काट डाला। वीर क्षत्रिय इस

समय साक्षात् रुद्र रूप धारण किए हुए थे, क्रोध के मारे उनकी आँखों से अँगारे बरस रहे थे। उनकी चमचमाती हुई रक्त-रंजित तलवारें जिस समय शत्रुओं के सिर पर नाचती थीं उस समय बिजली-सी कौंध जाती थी।

एक-एक राजपूत दस-दस और पन्द्रह-पन्द्रह यवनों को यमधाम भेज कर प्राणोत्सर्ग करता था। जहाँ-तहाँ राजपूतों के मुण्ड-विहीन रुण्ड भी तलवार चलाते दिखाई देते थे। कटे हुए सिरों में से भी 'मारो-मारो', 'काटो-काटो' की ध्वनि निकल रही थी। वीर बुन्देलों का ऐसा भीषण स्वरूप और प्रबल पराक्रम देख, यवनों की हिम्मत टूट गई और वे एक साथ मैदान छोड़ कर भाग निकले। सिपहसालार अब्दुल समद ने अपनी फ़ौज रोकने का भरसक प्रयत्न किया; मगर एक भी मुग़ल-सिपाही उसके रोके न रुका। राजपूतों ने भागती हुई शत्रु-सेना को दूर तक खदेड़ा और जब उन्हें विश्वास हो गया कि शत्रु अब फिर लौट कर आक्रमण नहीं करेंगे तब उनका पीछा छोड़ा। इस भाँति वीर बुन्देले विजय प्राप्त कर महोबा लौटे और समस्त बुन्देलखण्ड पर महाराजा छत्रसाल का एकछत्र राज्य हो गया।

इस विजय के पश्चात् छत्रसाल ने पन्ना शहर को बुन्देल-खण्ड की राजधानी बनाया और वे सुखपूर्वक राज्य करने लगे। छत्रसाल के राज्य में प्रजा को सब प्रकार की सुविधाएँ थीं, वह खूब सुख-सम्पन्न थी। औरंगज़ेब पर दो बार विजय प्राप्त कर लेने से अन्य यवन-शासकों पर भी छत्रसाल की धाक जम गई, जिससे कोई उसके विरुद्ध सिर उठाने की हिम्मत ही न करता था। मुसलमानों के अत्याचार बन्द हो जाने से बुन्देलखण्ड में सर्वत्र शान्ति विराजने लगी। छत्र-

साल अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन-पोषण करता था। प्रजा उसके लिए रुपया बनाने की मशीन न थी, प्रत्युत वह स्वयं अपने को प्रजा का रक्षक और सेवक समझता था। कर-रूप में प्राप्त किया हुआ धन आमोद-प्रमोद और भोग-विलास में नहीं बल्कि प्रजा की सुख-सुविधा के कार्यों में व्यय किया जाता था।

कुछ लोगों का विचार है, कि जो वीर योद्धा बाल्यकाल से ही शस्त्रास्त्र चलाने और मार-काट मचाने की शिक्षा पाते हैं, तथा बचपन ही से मार-धाड़ और लूट-पाट के वायु-मण्डल में रहते हैं उनको ललित कलाओं से प्रेम नहीं होता, और न उनके अन्तःस्तल में सहृदयता का सरस सरोवर हिलोरें मारता है। पर महाराज छत्रसाल ने लोगों की इस धारणा को भ्रान्त और मिथ्या प्रमाणित कर दिया। वे एक वीर योद्धा और सुदक्ष शासक होने के साथ ही सहृदय, साहित्य-वेत्ता, कलावित्, काव्यमर्मज्ञ और कवि भी थे। न जाने निरन्तर युद्धों में प्रवृत्त रहने पर भी उनमें उक्त सब बातों का समावेश कहाँ से हो गया था। छत्रसाल को कभी एक मास के लिए भी विद्यालय में पढ़ने-लिखने का अवसर नहीं मिला, फिर भी वह एक अच्छे विद्वान् थे। अवश्य ही उनके लिए यह सब ईश्वरीय देन थी। महाराज छत्रसाल के दरबार में कवि-कोविदों का सदैव स्वागत-सत्कार होता था। उनके यहाँ प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कवि बराबर बने रहते थे। महाकवि भूषणजी भी कई बार उनके दरबार में पधारे थे। छत्रसाल भूषण कवि का बहुत ही आदर करते थे। एक बार की घटना बताई जाती है, कि महाराज ने भूषण कवि की पालकी स्वयं अपने कंधे पर उठाई थी।

छत्रसाल के रचे हुए पद्य बड़े सुन्दर, सरस और भावपूर्ण हैं। नीचे हम उनका एक दोहा उद्धृत करते हैं। इस दोहे से उनकी कवित्व-शक्ति का परिचय भली भाँति मिल जाता है। यह दोहा छत्रसाल ने बाजीराव पेशवा के लिए लिखा था। महाराष्ट्र-केसरी शिवाजी का स्वर्गवास हो चुका था, उनके पुत्र शम्भाजी अत्याचारी औरंगज़ेब के शिकार बन चुके थे। इधर महाराज छत्रसाल में भी, अस्सी वर्ष से अधिक आयु हो जाने के कारण, पहले का-सा पौरुष-पराक्रम न रहा था, उनके पुत्रों को पारस्परिक लड़ाई-झगड़ों से ही अवकाश न मिलता था, वह शत्रुओं से राज्य की रक्षा क्या करते! ऐसी दशा में मैदान खाली देख फर्रुखाबाद का सूबेदार, बंगस ज़फ़रजंग अस्सी हज़ार सवार और चार सौ जंगी हाथी लेकर बुन्देलखण्ड पर चढ़ आया। यद्यपि इस समय छत्रसाल वृद्ध हो चुके थे फिर भी उनकी नसों में राजपूती रुधिर प्रवाहित था। जन्मभूमि पर यवन-शत्रुओं द्वारा आक्रमण हो और छत्रसाल देखते रहें, यह कैसे हो सकता था! महाराज तुरन्त सेना सजा कर शत्रुओं से लड़ने के लिए तैयार हो गए। छत्रसाल को इस बार अपनी तलवार पर उतना भरोसा न था। वह जानते थे कि इस बुढ़ापे में दुश्मनों को दबाना सहज काम नहीं है। इसीलिए उन्होंने एक पत्र लिख कर महाराष्ट्र-साम्राज्य के संरक्षक बाजीराव पेशवा को अपनी सहायता के लिए बुलाया। उस पत्र में छत्रसाल ने लिखा था:—

जो बीती गजराज पै, सो बीती अब आय।
बाजी जात बुँदेल की, राखो बाजीराय॥

पत्र पढ़ते ही बाजीराव को शिवाजी की छत्रसाल से की हुई प्रतिज्ञा का कि–आवश्यकता पड़ने पर मैं यथाशक्ति सहायता

छत्रसाल के रचे हुए पद्य बड़े सुन्दर, सरस और भावपूर्ण हैं। नीचे हम उनका एक दोहा उद्धृत करते हैं। इस दोहे से उनकी कवित्व-शक्ति का परिचय भली भाँति मिल जाता है। यह दोहा छत्रसाल ने बाजीराव पेशवा के लिए लिखा था। महाराष्ट्र-केसरी शिवाजी का स्वर्गवास हो चुका था, उनके पुत्र शम्भाजी अत्याचारी औरंगज़ेब के शिकार बन चुके थे। इधर महाराज छत्रसाल में भी, अस्सी वर्ष से अधिक आयु हो जाने के कारण, पहले का-सा पौरुष-पराक्रम न रहा था, उनके पुत्रों को पारस्परिक लड़ाई-झगड़ों से ही अवकाश न मिलता था, वह शत्रुओं से राज्य की रक्षा क्या करते! ऐसी दशा में मैदान ख़ाली देख फ़र्रुख़ाबाद का सूबेदार, बंगश ज़फ़रजंग अस्सी हज़ार सवार और चार सौ जंगी हाथी लेकर बुन्देलखण्ड पर चढ़ आया। यद्यपि इस समय छत्रसाल वृद्ध हो चुके थे फिर भी उनकी नसों में राजपूती रुधिर प्रवाहित था। जन्मभूमि पर यवन-शत्रुओं द्वारा आक्रमण हो और छत्रसाल देखते रहें, यह कैसे हो सकता था! महाराज तुरन्त सेना सजा कर शत्रुओं से लड़ने के लिए तैयार हो गए। छत्रसाल को इस बार अपनी तलवार पर उतना भरोसा न था। वह जानते थे कि इस बुढ़ापे में दुश्मनों को दबाना सहज काम नहीं है। इसीलिए उन्होंने एक पत्र लिख कर महाराष्ट्र-साम्राज्य के संरक्षक बाजीराव पेशवा को अपनी सहायता के लिए बुलाया। उस पत्र में छत्रसाल ने लिखा था:—

जो बीती गजराज पै, सो बीती अब आय।
बाजी जात बुँदेल की, राखो बाजीराय॥

पत्र पढ़ते ही बाजीराव को शिवाजी की छत्रसाल से की हुई प्रतिज्ञा का कि-आवश्यकता पड़ने पर मैं यथाशक्ति सहायता

देने के लिए उद्यत हूँ—स्मरण हो आया और उन्होंने उस स्वर्गीय महापुरुष के वचनों को निभाना आवश्यक समझा। बाजीराव तुरन्त एक बड़ी सेना लेकर छत्रसाल की सहायता के लिए आ उपस्थित हुए। इस युद्ध में स्वतन्त्रता देवी के बूढ़े पुजारी छत्रसाल ने बाजीराव की सहायता से बंगस को मार भगाया। इस प्रकार अपने इस अन्तिम युद्ध में भी बूढ़े महाराज ने विजय प्राप्त की।

महाराज छत्रसाल साधु-महात्माओं के भी बड़े भक्त थे। महाप्रभु प्राणनाथजी तो उनके गुरु ही थे। उन्होंने ही अपने उपदेशों द्वारा छत्रसाल के हृदय में स्वदेश-भक्ति का बीज अंकुरित किया था। महात्मा प्राणनाथजी प्रायः राजधानी पन्ना में पधार कर अपने उपदेशामृत द्वारा छत्रसाल के हृदय में अङ्कुरित देश-प्रेम के पौधे को सींच जाया करते थे।

छत्रसाल का जीवन पराक्रम और पुरुषार्थ का जीवन था। स्वदेश-भक्ति और साहस की तो वे प्रत्यक्ष प्रतिमा थे। अस्सी वर्ष की अवस्था में घोड़े पर चढ़ कर तलवार चलाना और शत्रुओं के हाथों में से विजय-लक्ष्मी छीन लाना आदि कार्य छत्रसाल के अदम्य उत्साह और असीम साहस के प्रत्यक्ष प्रमाण थे। कड़ी-से-कड़ी कठिनाइयों का सामना करके भी शत्रुओं से स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा करना, छत्रसाल के जीवन का मुख्य लक्ष्य था। यही कारण है, कि वह एक साधारण जागीरदार की हैसियत से बढ़ते-बढ़ते सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड के अधीश्वर बन गए। छत्रसाल ने अपनी सम्पूर्ण आयु सादा और संयत रह कर बिताई। विलासिता तो उन्हें छू भी न गई थी। भोग-विलास करने या वेश-भूषा सुधारने के लिए छत्रसाल के पास अवकाश ही कहाँ था!

उनका समस्त जीवन देशहित के लिए लड़ाई लड़ते बीता। यदि कुछ समय लड़ाइयों से बचता था, तो वह उसे प्रजा-हितसाधन में लगाते थे। छत्रसाल अस्सी साल से अधिक आयु में स्वर्गवासी हुए। उनकी देश-हितैषिता और प्रजा-प्रियता के कारण आज भी छत्रसाल-जयन्ती मनाई जाती है। कुछ दिन हुए पन्ना-नरेश ने अपने यहाँ महाराज छत्रसाल की एक विशाल प्रस्तर-प्रतिमा स्थापित कराई है।

गुरु गोविन्दसिंह

अब से लगभग पाँचसौ वर्ष पूर्व, पंजाब प्रान्त में नानक नाम के एक बड़े प्रसिद्ध महात्मा होगए हैं। इनके उपदेशों का लोगों पर ऐसा प्रभाव पड़ता था, कि वे तुरन्त उन्हें अपना गुरु मान, उनके भक्त बन जाते थे। धीरे-धीरे नानकजी के अनुयायियों की संख्या बहुत बढ़ गई, और वे सब नानक-पंथी कहलाने लगे। नानक-पंथियों ने अपनी एक गद्दी भी क़ायम करली और महात्मा नानक को उसका अध्यक्ष बनाया। नानकजी जब शरीर त्यागने लगे, तो उन्होंने अपने प्रधान शिष्य को अपनी गद्दी सौंपी। इस प्रकार एक के पश्चात् दूसरा गुरु उस गद्दी पर बैठने और अपने शिष्यों को धर्मोपदेश देने लगा। नानकजी के सिद्धान्त और उपदेश इतने लोकप्रिय थे, कि यवनों पर भी उनका प्रभाव पड़े बिना न रहा। बादशाह अकबर को तो नानकजी के सिद्धान्त इतने पसन्द आए, कि उसने प्रसन्न होकर अमृतसर की जागीर नानक-पंथियों की गद्दी के लिए दे दी। धीरे-धीरे भक्त-जनों ने अपने गुरुओं के उपदेशों को एकत्र कर पुस्तक-रूप में कर लिया और वह पुस्तक 'आदि ग्रन्थ' या 'ग्रन्थ साहब' के नाम से प्रसिद्ध हुई। नानक-पंथी लोग 'ग्रन्थ साहब' को देव-मूर्ति के समान पूजने लगे। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया नानकजी के पंथ का प्रसार होता गया। आगे चलकर इन्हीं लोगों का सिक्ख नाम पड़ा। औरंगज़ेब के समय तक इनकी गद्दी पर आठ गुरु बैठ चुके थे और नवें गुरु तेगबहादुरजी उस समय गद्दी पर विराजमान थे। इन्हीं तेगबहादुरजी के घर में स्वातंत्र्य-प्रेमी तथा

गुरु गोविन्दसिंह

तथा उनमें जाति और धर्म पर बलि होने के भाव भरना आरंभ करदिया। गुरुजी के उपदेशों से सिक्ख लोगों के हृदयों में इतनी अगाध श्रद्धा उत्पन्न होगई थी, कि वे उनके संकेत मात्र पर मरने को तैयार होजाते थे।

धीरे-धीरे यह बात औरंगज़ेब के कानों तक पहुँची। भला वह इस बात को कैसे सहन कर सकता था, कि एक तो तेग़बहादुर अपने मत का प्रचार करे, दूसरे बाग़ियों (!) को अपने यहाँ आश्रय भी दे। बादशाह ने इस बात की चर्चा मुल्ला-मौलवियों से की, तो उन्होंने तुरन्त गुरु तेग़बहादुर को राज-विद्रोही क़रार दे दिया और कहा—"जहाँपनाह, इस क़ाफ़िर को तो जितना जल्द हो सके, पकड़कर मुसलमान बनाना चाहिये। इस एक के मुसलमान होते ही इसके हज़ारों साथी भी मुसलमान बन जायँगे।" बादशाह को भी यह बात पसन्द आई और उसने तुरन्त एक फ़ौज तेग़बहादुर को पकड़ने के लिए अमृतसर भेज दी।

जब तेग़बहादुर ने सुना, कि बादशाह ने उनके पकड़ने के लिए एक फ़ौज भेजी है, तब उन्होंने एक बड़ा दरबार किया जिसमें सब सिक्खों को बुलाया। जब सब लोग एकत्र हो गए, तो तेग़बहादुर उन्हें सम्बोधन करते हुए बोले—"भाइयो, अब धर्म और जाति के लिए मेरे बलि होने का समय आ गया है। बादशाह ने मुझे पकड़ने के लिए फ़ौज भेजी है और इसमें सन्देह नहीं, कि एक-दो दिन में ही वह मुझे पकड़ ले जायगी। आप लोग भली भाँति जानते हैं, कि अब दिल्ली से मैं जीवित नहीं लौट सकता, ऐसी दशा में मेरा कर्त्तव्य है कि, अपना उत्तराधिकारी किसी को नियत करदूँ। मेरी सम्मति में इसके लिए, गोविन्दसिंह बहुत ही उपयुक्त

है। वह अभी बालक है, परन्तु त्याग और तप के भाव उसमें पूर्णरूप से विद्यमान हैं।" इसके अनन्तर तेग़बहादुर जी ने गुरु-परम्परा से प्राप्त अपनी तलवार, गोविन्दसिंह की कमर में बाँधी और कहा—"पुत्र, आज से अपनी जाति और अपने धर्म की रक्षा का भार तुम पर है। देखना, देश और गुरुओं के नाम पर धब्बा न लगने पावे। हो सके, तो मेरा शव दिल्ली से मँगा कर उसकी यथाविधि अन्तिम क्रिया कर देना। पुत्र, मुझे यह भी आशा है, कि तुम यवनों से अपने पिता के ख़ून का बदला लिए बिना न रहोगे।"

दूसरे ही दिन शाही फ़ौज आई और गुरु तेग़बहादुर को उनके भाई सहित पकड़ कर दिल्ली ले गई। वहाँ उनके अपराधों की सज़ा निश्चित करने के लिए न्याय का नाटक रचा गया। कितने ही मुल्लाओं की मण्डली विचार करने बैठी। अन्त में उसने अपना निर्णय तेग़बहादुरजी को सुनाया, कि तुमने जो इसलाम के ख़िलाफ़ अपना पन्थ फैलाया है, उसके लिए शरअ् के मुताबिक कम-से-कम सज़ा यही है, कि तुम्हें सूली पर चढ़ा दिया जाय। हाँ, अगर तुम मुसलमान हो जाओ और हज़रत पर ईमान ले आओ, तो तुम्हारी जान बख़्शी जा सकती है। गुरु तेग़बहादुर भला प्राण-भय से कहीं धर्म त्यागने वाले थे! उन्होंने सिंह-गर्जना करते हुए कहा—"धर्म प्राणों से भी अधिक प्यारा है। तेग़-बहादुर प्राण दे सकता है, पर धर्म नहीं छोड़ सकता। बादशाह ने बहुत डराया-धमकाया, पर वह धर्मवीर अपने निश्चय पर अटल बना रहा। बादशाह ने गुरुजी को सोचने-विचारने के लिए कई दिनों का अवसर दिया, परन्तु वह यवन बनने के लिए राज़ी न हुए, इस पर बादशाह ने गुरु के भाई को

तथा उनमें जाति और धर्म पर बलि होने के भाव भरना आरंभ करदिया। गुरुजी के उपदेशों से सिक्ख लोगों के हृदयों में इतनी अगाध श्रद्धा उत्पन्न होगई थी, कि वे उनके संकेत मात्र पर मरने को तैयार होजाते थे।

धीरे-धीरे यह बात औरंगज़ेब के कानों तक पहुँची। भला वह इस बात को कैसे सहन कर सकता था, कि एक तो तेग़बहादुर अपने मत का प्रचार करे, दूसरे बाग़ियों (!) को अपने यहाँ आश्रय भी दे। बादशाह ने इस बात की चर्चा मुल्ला-मौलवियों से की, तो उन्होंने तुरन्त गुरु तेग़बहादुर को राज-विद्रोही क़रार दे दिया और कहा—"जहाँपनाह, इस क़ाफ़िर को तो जितना जल्द हो सके, पकड़कर मुसलमान बनाना चाहिये। इस एक के मुसलमान होते ही इसके हज़ारों साथी भी मुसलमान बन जायँगे।" बादशाह को भी यह बात पसन्द आई और उसने तुरन्त एक फ़ौज तेग़बहादुर को पकड़ने के लिए अमृतसर भेज दी।

जब तेग़बहादुर ने सुना, कि बादशाह ने उनके पकड़ने के लिए एक फ़ौज भेजी है, तब उन्होंने एक बड़ा दरबार किया जिसमें सब सिक्खों को बुलाया। जब सब लोग एकत्र हो गए, तो तेग़बहादुर उन्हें सम्बोधन करते हुए बोले—"भाइयो, अब धर्म और जाति के लिए मेरे बलि होने का समय आ गया है। बादशाह ने मुझे पकड़ने के लिए फ़ौज भेजी है और इसमें सन्देह नहीं, कि एक-दो दिन में ही वह मुझे पकड़ ले जायगी। आप लोग भली भाँति जानते हैं, कि अब दिल्ली से मैं जीवित नहीं लौट सकता, ऐसी दशा में मेरा कर्त्तव्य है कि, अपना उत्तराधिकारी किसी को नियत करदूँ। मेरी सम्मति में इसके लिए, गोविन्दसिंह बहुत ही उपयुक्त

है। वह अभी बालक है, परन्तु त्याग और तप के भाव उसमें पूर्णरूप से विद्यमान हैं।" इसके अनन्तर तेग़बहादुर जी ने गुरु-परम्परा से प्राप्त अपनी तलवार, गोविन्दसिंह की कमर में बाँधी और कहा—"पुत्र, आज से अपनी जाति और अपने धर्म की रक्षा का भार तुम पर है। देखना, देश और गुरुओं के नाम पर धब्बा न लगने पावे। हो सके, तो मेरा शव दिल्ली से मँगा कर उसकी यथाविधि अन्तिम क्रिया कर देना। पुत्र, मुझे यह भी आशा है, कि तुम यवनों से अपने पिता के ख़ून का बदला लिए बिना न रहोगे।"

दूसरे ही दिन शाही फ़ौज आई और गुरु तेग़बहादुर को उनके भाई सहित पकड़ कर दिल्ली ले गई। वहाँ उनके अपराधों की सज़ा निश्चित करने के लिए न्याय का नाटक रचा गया। कितने ही मुल्लाओं की मण्डली विचार करने बैठी। अन्त में उसने अपना निर्णय तेग़बहादुरजी को सुनाया, कि तुमने जो इसलाम के ख़िलाफ़ अपना पन्थ फैलाया है, उसके लिए शरअ् के मुताबिक कम-से-कम सज़ा यही है, कि तुम्हें सूली पर चढ़ा दिया जाय। हाँ, अगर तुम मुसलमान हो जाओ और हज़रत पर ईमान ले आओ, तो तुम्हारी जान बख़्शी जा सकती है। गुरु तेग़बहादुर भला प्राण-भय से कहीं धर्म त्यागने वाले थे! उन्होंने सिंह-गर्जना करते हुए कहा—"धर्म प्राणों से भी अधिक प्यारा है। तेग़-बहादुर प्राण दे सकता है, पर धर्म नहीं छोड़ सकता। बादशाह ने बहुत डराया-धमकाया, पर वह धर्मवीर अपने निश्चय पर अटल बना रहा। बादशाह ने गुरुजी को सोचने-विचारने के लिए कई दिनों का अवसर दिया, परन्तु वह यवन बनने के लिए राज़ी न हुए, इस पर बादशाह ने गुरु के भाई को

मरवा डाला। औरंगज़ेब समझता था कि कदाचित् भाई का वध होने से तेग़बहादुर डर जायँगे और वह इसलाम-मत स्वीकार कर लेंगे। जब बादशाह ने देखा कि, वीर तेग़बहादुर किसी प्रकार भी मुसलमान बनने को तैयार नहीं है, तो अन्त में उसने उन्हें मरवा डाला। गुरु साहब के स्वर्गवासी हो जाने पर बादशाह ने उनका शव एक जगह डलवा दिया और पहरा नियत कर दिया, कि जो कोई लाश लेने के लिए आवे, उसे फ़ौरन गिरफ़्तार करलो।

गुरु गोविन्दसिंह ने जब गुरु तेग़बहादुर के मारे जाने की ख़बर सुनी, तो उन्होंने शोक नहीं किया, बल्कि अपने शिष्यों को एकत्र कर कहा—"भाइयो, आज हमारे गुरु अत्याचारी औरंगज़ेब द्वारा मरवा डाले गए हैं। उनका आदेश था, कि मेरा शव मँगाकर उसका अन्तिम संस्कार कर देना। अब देखना है, तुममें से कौन ऐसा वीर है, जो प्राणों की बाज़ी लगा कर गुरु के पवित्र शरीर को लाता है।"

गोविन्दसिंह ने सिक्खों से उपर्युक्त बात कह तो दी, परन्तु पीछे सोचा, कि दिल्ली से गुरु की लाश लेने जाना, मौत के मुँह में प्रवेश करना है। अतः इस काम के लिए तो मुझे स्वयं जाना चाहिए। किसी दूसरे को ऐसे ख़तरे की जगह क्यों भेजा जाय। यह सोच गोविन्दसिंह वेश बदल कर दिल्ली के लिए रवाना होगए। मार्ग में उन्हें दो आदमी एक गाड़ी ले जाते हुए मिले। बातचीत होने पर गोविन्दसिंह को ज्ञात हुआ कि गाड़ीवाले दोनों व्यक्ति सिक्ख पिता-पुत्र हैं, और गुरु साहब का शव लेने दिल्ली जा रहे हैं। गोविन्दसिंह ने उनसे कहा—"भाइयो, गुरु की लाश लेने मैं जाता हूँ, तुम लोग अपने घर लौट जाओ।" इस पर उक्त दोनों सिक्ख

बोले—"नहीं, महाराज, जब हम आपके सेवक मौजूद हैं तब आपको जाने की क्या आवश्यकता है!" गोविन्दसिंह ने उन्हें समझाया—"इस काम के लिए जाने में प्राणों का भय है, इसलिए तुम गृहस्थ होकर इस ख़तरे में मत पड़ो, मुझे ही जाने दो।" उत्तर में फिर दोनों बोले—"भगवन्, आप जीवित रहेंगे, तो अपने उपदेश द्वारा हम जैसे सहस्रों सिक्ख तैयार कर लेंगे, अतएव आप दिल्ली न जाइए। हमारे मरने-जीने से कुछ बिगड़ता-बनता नहीं है। इसलिए इस ख़तरे में हमें ही जाने दीजिए।" इस प्रकार गुरु गोविन्दसिंह और उन सिक्खों में बहुत वाद-विवाद हुआ, अन्त में गोविन्दसिंह सिक्खों के अनुरोध से लौट गए।

दोनों सिक्खों ने दिन छिपे गाड़ी सहित दिल्ली में प्रवेश किया और वे गुप्तरूप से पता लगाते-लगाते वहाँ पहुँचे, जहाँ बादशाह ने तेग़बहादुर की लाश डलवा दी थी। पिता-पुत्र ने गुरु का शव गाड़ी में रक्खा और चलने को उद्यत हुए। इतने ही में पिता ने कहा—"पुत्र, सवेरा होते ही, जब यवन यहाँ शव न पावेंगे, तो यह समझकर कि कोई सिक्ख उसे उठा ले गया, तुरन्त हमारा पीछा करेंगे। ऐसी दशा में गुरु का शव तो अमृतसर पहुँचेगा ही नहीं, साथ ही हम दोनों भी मारे जायँगे। इसलिए मुझे गुरु की जगह लेट जाने दो और तुम गाड़ी लेकर चले जाओ। सवेरे यवन सिपाही मुझे ही शव समझते रहेंगे और तुम्हारा पीछा न करेंगे।" इस प्रकार तुम निर्विघ्न अमृतसर पहुँच जाओगे। इस पर पिता-पुत्र में बहुत विवाद हुआ। पिता आपको वहाँ लेटकर गुरु के नाम पर बलि होना चाहता था और पुत्र आपको। आख़िर पिता ने पुत्र को शव लेकर जाने के लिए विवश कर दिया

और आप पेट में कटार भोंककर वहीं लेट गया। पुत्र शव को अपने प्राणों की भाँति छिपाता हुआ, लुक-छिपकर अमृतसर पहुँचा और वहाँ उसका संस्कार किया गया। गोविन्दसिंह ने गुरु का अन्तिम आदेश पूर्ण करके उसी समय सबके आगे प्रतिज्ञा की, कि अब मैं यवनों से गुरु के खून का बदला लिए बिना सुख से नहीं बैठूँगा।

उक्त प्रतिज्ञा के पश्चात् ही गुरु गोविन्दसिंह ने सादा जीवन बिताना और तपस्या करना प्रारम्भ कर दिया। वे अपने शिष्यों को त्याग और तप का उपदेश ही न देते, बल्कि स्वयं आदर्श बनकर उसका उदाहरण भी उपस्थित करते थे। गोविन्दसिंह भोग-विलास त्याग काँगड़ा के पहाड़ों में रहने और शिष्यों (सिक्खों) को संगठित कर शस्त्रास्त्रों का अभ्यास कराने लगे। वे औरंगज़ेब जैसे शक्तिशाली शासक से पिता के वध का बदला लेना अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य बना चुके थे, अतएव रात-दिन उद्योग पूर्वक सिक्खों को युद्ध के लिए तैयार करने लगे। जो नानक-पंथी अब तक भगवत्-चिन्तन करते हुए शान्तिमय जीवन बिताया करते थे, उनके अन्दर गुरु गोविन्दसिंह के उपदेशों ने एकदम यवनों के प्रति विद्रोह के भाव भर दिए। गोविन्दसिंह ने नानक-पन्थ का स्वरूप ही पलट दिया। अब वह धार्मिक पंथ न रह कर राजनैतिक संघ बन गया और ईश्वर-प्राप्ति के स्थान में विधर्मियों से देश तथा जाति की रक्षा करना उसका ध्येय हो गया। सिक्ख-लोग गोविन्दसिंह के इतने भक्त बन गए, कि वे उनके संकेत मात्र पर प्राण देने के लिए तैयार हो जाते। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि एक बार किसी सिक्ख ने गोविन्दसिंह को

बन्दूक भेंट की और उसकी तारीफ़ में बहुत कुछ कहा। बन्दूक लेकर गोविन्दसिंह बोले—"अच्छा लाओ, इसकी अभी परीक्षा करके देखें।" यह कह उन्होंने अपने नौकर को आज्ञा दी कि कोई ऐसा आदमी तलाश करके लाओ, जिस पर बन्दूक की परीक्षा की जाय। कहते हैं, नौकर ने बाहर निकल कर इधर-उधर देखा, तो उसे दो सिक्ख जाते हुए दिखाई दिए। नौकर ने जब उनसे गुरु की बात कही तो वे दोनों ही गुरु साहब की बन्दूक का निशाना बनने के लिए तैयार होगए। पीछे गोविन्दसिंह ने उनकी बड़ी प्रशंसा की और उन्हें विदा कर दिया। इस भाँति बीस वर्ष की तैयारी के पश्चात् गोविन्दसिंह ने पैंतीस साल की आयु में कार्य करना आरम्भ किया।

गोविन्दसिंह ने अपना जीवन बहुतही सादा और त्याग-मय बना लिया था। एक बार उन्हें उनके किसी शिष्य ने हीरा जड़ा हुआ बहुमूल्य सुवर्ण-कंकण भेंट किया। इस समय गोविन्दसिंह ने सोचा कि मेरे शिष्यों में अभी त्याग का अभाव है, सुवर्ण मणि-माणिक्य से उन्हें अभी मोह है। ये इन चीज़ों को प्रिय समझते हैं, इसीलिए मुझे भेंट करने लाए हैं। इन भौतिक पदार्थों से ममता-मोह दूर किए बिना ये लोग जाति तथा धर्म की रक्षा के लिए प्राण कैसे निछावर कर सकते हैं! अब मुझे अपने क्रियात्मक व्यवहार द्वारा ही इन्हें त्याग का उपदेश देना चाहिए। यह निश्चय कर गोविन्दसिंह ने कड़ों की जोड़ी ले तो ली और शिष्यों के अनुरोध से उसे पहन भी लिया, परन्तु दूसरे ही दिन उनमें से एक कड़ा उतार कर नदी में फेंक दिया। शिष्यों ने जब गुरुजी का एक हाथ ख़ाली देखा और उनसे पूछा, तो उन्हें ज्ञात हुआ कि कड़ा नदी में

गिर गया। तुरन्त ही वे लोग एक गोताखोर को लिवा-लाए और गुरुजी से पूछा—"महाराज, कड़ा किस जगह गिरा है ?" इस पर गोविन्दसिंहजी ने दूसरा कड़ा भी उतार कर नदी में फेंक दिया और कहा—"यहीं कहीं गिरा था।"

गुरुजी का यह हाल देख सिक्ख लोग उनके भाव को समझ गए और उसी दिन से सब लोग भोग-विलास त्याग कर सादा जीवन बिताने लगे। गोविन्दसिंहजी ने उसी दिन यह घोषणा कर दी कि आज से युद्धोपयोगी वस्तुओं के सिवा कोई दूसरी चीज़ हमारी भेंट न की जाय। गोविन्दसिंहजी के आज्ञानुसार अब सिक्ख लोग तीर-कमान, तलवार, बन्दूक़ आदि वस्तुएँ ही उनकी भेंट के लिए लाते थे। इस युक्ति से गोविन्दसिंह के पास सहस्रों शस्त्रास्त्र एकत्र हो गए, जो पीछे यवनों के साथ युद्ध करने में काम आए।

गुरु गोविन्दसिंह अब धर्म-गुरु न रहकर सिक्ख सैनिकों के सुयोग्य सेनापति बन गए थे। उन्होंने सिक्खों को पूर्ण रूप से प्रोत्साहन दे, देश और धर्म की रक्षा के लिए मर मिटने को तय्यार कर लिया था। गोविन्दसिंह के उपदेशों से सिक्ख-समाज उन्मत्त-सा हो उठा और उसके बच्चे-बच्चे में देश और धर्म पर बलि होने के भाव जाग्रत हो गये। गोविन्दसिंह युद्ध की पूरी तैयारी कर चुके, तो उन्होंने लड़ाई छेड़ने से पूर्व एक बार सिक्खों की परीक्षा करनी चाही। गुरु साहब ने एक बड़ा दरबार किया, जिसमें सब सिक्ख एकत्र हुए। सब के आचुकने पर गुरु ने खड़े हो कर कहा—"वीरो, स्वतन्त्रता देवी ने स्वप्न में मुझ से कहा है, कि तुम पाँच सिक्खों की बलि मुझे दो, तो मैं तुम से प्रसन्न हूँगी। अब

तुम में से जो देवी की भेंट होने के लिए तैयार हो, वह आगे आवे।" गोविन्दसिंह की बात सुन कुछ काल के लिए दरबार में सन्नाटा छागया। थोड़ी देर बाद एक सिक्ख भीड़ को चीरता हुआ आगे आया, और गुरुजी से बोला—"महाराज, देवी पर निछावर होने के लिए मैं तैयार हूँ।"

गुरु उसका हाथ पकड़ समीप के डेरे में लेगए और वहाँ उसे चुपचाप बैठे रहने का आदेश देकर बकरे के खून में सनी तलवार हाथ में लिए बाहर निकल आए। उन्होंने देखा, दूसरा सिक्ख भी बलि होने के लिए तैयार है। उसे भी वह डेरे में लेगए और दूसरे बकरे को मारकर फिर लौट आए। डेरे में से बहती हुई रुधिर-धारा और खून से सनी तलवार देख सिक्खों को निश्चय होगया कि गुरु ने डेरे में लेजाकर दोनों को देवी की भेंट चढ़ा दिया। अब तो गुरु एक को डेरे में पहुँचाकर आते और दो को बलि होने के लिए तैयार पाते थे। गोविन्दसिंह ने पाँच सिक्खों की जगह पाँचसौ को बलि होने के लिए उद्यत देखा, तो उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया, कि इनमें से कोई भी युद्ध से मुँह मोड़ने वाला नहीं है। इसके बाद गुरुजी उन पाँचों सिक्खों को डेरे से बाहर निकाललाए और सबसे बोले—"वीरो, तुम्हारे धर्म-प्रेम को देख देवी परम प्रसन्न हुई है, और उसने इन पाँचों को पुनः जीवित कर दिया है। गुरु गोविन्दसिंह ने उन पाँचों सिक्खों का 'पंज प्यारा' नाम रक्खा।

इस घटना से सिक्खों के हृदयों में धर्म पर बलि होने के भाव और भी दृढ़ हो गए, गुरु के वचनों में उनकी पहले से भी अधिक श्रद्धा बढ़ गई। गोविन्दसिंह ने देखा, कि युद्ध

करने वालों के लिए जात-पाँत और छुआछात का बखेड़ा बड़ा हानिकारक है, इसलिए उन्होंने सिक्खों में से ऊँच-नीच का भाव मिटाना आरम्भ किया। गोविन्दसिंह ने सिक्खों को पंच-ककार, अर्थात् कंघा, कड़ा, केश, काछ और कटार ये पाँच वस्तुएँ, हमेशा पास रखने का आदेश किया। इनमें से कड़े का महत्त्व बतलाते हुए उन्हों ने कहा कि जिस वस्तु पर भी यह फेर दिया जायगा, वही पवित्र हो जायगी। इसके द्वारा तुम यवनों का छुआ भोजन भी शुद्ध करके खा सकते हो। पंच ककारों के धारण कराने में गोविन्दसिंह ने कितनी विचारशीलता और दूर-दर्शिता से काम लिया है! वह जानते थे कि युद्ध में शुद्धता से बैठ कर भोजन करने का अवसर बहुत कम मिलेगा। वहाँ तो प्रायः यवनों से छूने-छाने का अड़ंगा लगा ही रहेगा। उस समय सिक्ख अपना भोजन और आवश्यकता पड़ने पर यवनों की रोटियाँ भी कड़े द्वारा पवित्र करके खा सकेंगे। एक कड़े की ही कितनी उपयोगिता है। कटार तो युद्ध में प्रति समय काम आने वाली चीज़ ठहरी। इसके सिवा हर वक्त हथियार पास रहने से मनुष्य में कुछ साहस और वीरता के भाव भी भरे रहते हैं। इसी प्रकार और तीन चीज़ें भी अत्युपयोगी हैं।

पूरी तैयारी कर चुकने पर गोविन्दसिंह ने युद्ध का सूत्रपात किया। सब से प्रथम उन्होंने पंजाब के छोटे-छोटे पहाड़ी राजाओं को अपने साथ मिलाने की चेष्टा की। परन्तु जब वे लोग सिक्खों के साथ मिलकर औरंगज़ेब से लड़ने के लिए राज़ी न हुए, तो गोविन्दसिंह ने उनपर हमला कर दिया। उधर से राजा लोग भी अपनी-अपनी सेना लेकर सिक्खों के मुक़ाबले में आए, परन्तु वे सिक्खों के आगे

थोड़ी देर भी न टिक सके और मैदान छोड़कर भाग गए। गुरु गोविन्दसिंह ने उनकी रियासतों पर क़ब्ज़ा कर लिया।

राज्य-भ्रष्ट जागीरदारों ने गोविन्दसिंह से पराजित होकर दिल्लीश्वर औरंगज़ेब की शरण ली। उन्होंने सिक्खों के विरुद्ध बादशाह से अनेक बातें कहीं। मुग़ल-सम्राट् तो पहले ही से गोविन्दसिंह पर खार खाए बैठा था। वह भला यह कैसे सहन कर सकता था, कि गोविन्दसिंह इसलाम के विरुद्ध प्रचार करता हुआ, अब मुग़ल-सल्तनत के ख़िलाफ़ भी सिर उठावे। औरंगज़ेब ने तुरन्त अपनी फ़ौज सिक्खों का दमन करने के लिए भेज दी। उधर गुरु गोविन्दसिंह तो पहले ही इस विपत्ति का सामना करने के लिए उद्यत थे। यमुना तथा सतलज के मध्यवर्ती मैदान में मुग़लों और सिक्खों में मुठभेड़ हुई। देश-प्रेम में मतवाले सिक्ख वीर 'वाह गुरु की फ़तेह' का गम्भीर घोष करते हुए यवन-दल पर टूट पड़े। भीषण मार-काट मच गई। उधर मुग़ल सैनिक भी 'अल्लाहो अकबर' के नारे लगाते हुए प्रबल पराक्रम पूर्वक तलवार चला रहे थे। थोड़ी ही देर में युद्ध-भूमि लोथों से पट गई। इस युद्ध में गुरु गोविन्दसिंह बड़ी वीरता के साथ लड़े, पर टीढ़ी-दल के समान कोसों तक फैली हुई मुग़ल-सेना से पार पा सकना कठिन था। उनके प्रायः सभी मुख्य-मुख्य ख़ालसा वीर इस युद्ध में काम आ गए। आख़िर सिक्खों के पैर उखड़ गए और उन्होंने आनन्दपुर के क़िले में जाकर शरण ली।

यवन-सेना सिक्खों को खदेड़ती ही चली गई और उसने आनन्दपुर के क़िले को जा घेरा। बहुत दिनों तक सिक्ख लोग क़िले में बैठ कर ही लड़ते रहे, परन्तु जब उनकी रसद समाप्त

हो गई, तो उन्हें क़िले से निकलने के लिए विवश होना पड़ा। गुरु गोविन्दसिंह रात्रि के समय, जब मुग़ल-सेना विश्राम कर रही थी, अवसर पा क़िले से निकल खड़े हुए। परन्तु दैवात् उसी समय यवन सिपाही भी जाग पड़े। फिर क्या था, मार-काट शुरू होगई। इस युद्ध में गोविन्दसिंह बड़ी वीरता से लड़े और उन्होंने मुग़लों के छक्के छुड़ा दिए। परन्तु अकेला चना भाड़ थोड़े ही फोड़ सकता है। आख़िर गुरुजी के मुट्ठीभर सिक्ख असीम यवन-दल के आगे कब तक ठहरते, वह बेचारे भाग निकले और पहाड़ियों में छिप कर जीवन बिताने लगे। इस युद्ध में गोविन्दसिंह के दो पुत्र मारे गए और दो यवनों के हाथ पड़ गए, जिन्हें बादशाह ने इस्लाम-धर्म स्वीकार न करने के कारण, ज़िन्दा ही क़िले की दीवार में चुनवा कर मरवा डाला। अब मुग़ल-सेना गोविन्दसिंहजी के पीछे पड़ गई। जहाँ वह जाते, वहीं यवन सिपाही भी उनके पीछे-पीछे हो लेते। बेचारे गोविन्दसिंह के लिए एक जगह बैठना कठिन हो गया, वे जहाँ-तहाँ पहाड़ियों में छिप-छिपा कर सिक्खों का संगठन करने लगे। इन दिनों गोविन्दसिंह की बड़ी दयनीय दशा थी। अन्न की तो बात ही क्या, कई-कई दिन तो उन्हें बिना जल के बीत जाते थे। अनेक रातें उन्हें पेड़ों पर चढ़ तथा झाड़ियों में छिपकर शीत और वर्षा सहन करते हुए बितानी पड़ीं। गोविन्दसिंह ने सब संकटों का सहर्ष स्वागत किया, परन्तु अपने धर्म और ध्येय को नहीं छोड़ा। वे जिस स्वतन्त्रता को अपने जीवन का लक्ष्य बना चुके थे, उसके लिए मरते दम तक भरसक प्रयत्न करते रहे।

गोविन्दसिंह और मुसलमानों में अनेक बार संघर्ष हुआ, परन्तु प्रत्येक बार सिक्खों ने मुग़लों के दाँत खट्टे किए। गोवि-

न्दसिंह अल्पशक्ति होने के कारण मुग़लों पर विजय भले ही न पा सके, परन्तु उनकी वीरता का सिक्का औरंगज़ेब पर बिना बैठे न रहा। औरंगज़ेब सिक्खों के प्रबल पराक्रम की भूरि-भूरि प्रशंसा किया करता था। कई दफ़ा मुग़ल-सम्राट् ने गोविन्दसिंह के पास यह सन्देश भेजा कि, यदि तुम विद्रोह छोड़कर मेरी अधीनता स्वीकार कर लो तो, एक बहुत बड़ी जागीर तुम्हें दी जा सकती है। इस पर गोविन्दसिंह ने यही उत्तर दिया कि मेरा युद्ध राज्य प्राप्त करने या व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन के लिए नहीं है। मेरी लड़ाई तो, देश की स्वतन्त्रता के लिए है और वह उसके प्राप्त होने तक बराबर जारी रहेगी।

गोविन्दसिंह जब तक जिए, बराबर मुग़लों से लड़ते रहे। भले ही वे अपने उद्देश्य की पूर्ति में कृतकार्य नहीं हुए, परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि उन्होंने लोगों में निर्भयता और स्वतन्त्रता के भाव कूट-कूट कर भर दिए। गुरु गोविन्दसिंह के उपदेशों का ही प्रभाव है, कि आज हम सिक्ख जाति को वर्त्तमान रूप में देख रहे हैं। आज भी गोविन्दसिंह का नाम सिक्खों के अन्दर बिजली-सी उत्पन्न कर देता है। गोविन्दसिंह ने अपनी उद्देश्य-पूर्ति को जगत् की सब वस्तुओं से अधिक महत्त्व-पूर्ण समझा, यही कारण था कि उन्होंने उसके लिए धन-धाम, कुटुम्ब-परिवार यहाँ, तक कि पुत्रों और प्राणों तक को भी निछावर कर दिया। गोविन्दसिंह ने दिन-रात मारे-मारे फिरना मंज़ूर किया, लेकिन औरंगज़ेब की अधीनता स्वीकार नहीं की।

मुग़ल सम्राट् गोविन्दसिंह की वीरता और निर्भीकता से अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। कहते हैं, एक बार जब औरंगज़ेब बीमार

था, तो उसे गुरु साहब के दर्शन करने की उत्कट इच्छा हुई। उसने उसी समय आदमी भेजकर गोविन्दसिंह को केवल दर्शन देने के लिए, बड़े आदरपूर्वक और विनम्र भाव से बुलाया तथा उनके साथ विश्वासघात न करने का उन्हें यकीन दिलाया। उस समय औरंगज़ेब के अत्यधिक आग्रह से गोविन्दसिंह उससे मिलने चले, परन्तु उनके पहुँचने से पूर्व ही औरंगज़ेब परलोक सिधार गया। पीछे औरंगज़ेब के पुत्र बहादुरशाह ने गुरुसाहब का बड़ा आदर-सत्कार किया और उन्हें बहुत बड़ी जागीर देकर उनकी सम्मान-वृद्धि की।

गुरुसाहब जहाँ बड़े वीर, साहसी और दृढ़ प्रतिज्ञ थे वहाँ दयालु एवं उदार भी थे। सच पूछो तो, उनकी दयालुता ही अन्त में उनकी मृत्यु का कारण हुई। कहते हैं कि एक बार युद्ध में गुरु साहब के हाथों एक यवन मारा गया। पीछे उसके छोटे-छोटे दो लड़के, जो पिता के मर जाने से अनाथ हो गए थे, गोविन्दसिंहजी की शरण में आए, तो उन्होंने उनको आश्रय देकर अपने यहाँ रख लिया। अन्त को वे यवन-बालक एक दिन गुरु साहब की छाती में छुरा भोंककर भाग निकले। खबर पड़ जाने से सिक्खों ने उनको पकड़ लिया और चाहा कि उन्हें उनके क्रूर कर्म का दण्ड दें, परन्तु दयालु गुरुसाहब ने यह कह कर उनको छुड़वा दिया कि, इन्होंने कोई अपराध नहीं किया, केवल अपने पिता के बध का बदला ही तो लिया है। मैं इनके साहस से बड़ा सन्तुष्ट हूँ और इन्हें हृदय से क्षमा करता हूँ। अब तुम लोग इन्हें छोड़ दो। गुरु साहब की उदारता का इससे अधिक और प्रमाण क्या हो सकता है?

लोगों ने गोविन्दसिंहजी के घाव को सींकर उसमें दवा लगा दी और वह अच्छा भी हो चला था कि, इसी समय एक

सिक्ख कहीं से बहुत बड़ा धनुष लेकर आया। उसने गुरुजी से कहा कि, महाराज, भारतवर्ष में कोई भी वीर इस धनुष को नहीं चला सकता। गुरुसाहब से शिष्य की यह बात सहन न हो सकी और उन्होंने तुरन्त उस धनुष को तान दिया। कहते हैं, उस समय गुरुजी ने धनुष से जो तीर छोड़ा, वह तीन मील की दूरी पर जाकर गिरा था। गुरु साहब ने धनुष तो तान दिया, परन्तु उस समय बल करने के कारण उनकी छाती का कच्चा घाव फट गया। इसके पश्चात् उस घाव को अच्छा करने के लिए लोगों ने बहुत प्रयत्न किया परन्तु उसमें से रुधिर बहना बन्द न हुआ और उसी के कारण गोविन्दसिंहजी का स्वर्गवास हो गया।

गुरु गोविन्दसिंह का देहान्त दक्षिण हैदराबाद के समीप चन्देरा नामक स्थान में हुआ बताया जाता है। उक्त स्थान पर गुरु साहब की समाधि बनी हुई है। सिक्ख लोग इस समाधि को पवित्र तीर्थ-स्थान मानते और प्रति वर्ष सहस्रों की संख्या में उसके दर्शन करने जाते हैं। कुछ दिनों से अनेक स्थानों पर गोविन्दसिंहजी की जयन्ती भी मनाई जाने लगी है।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

संसार में जितने बड़े आदमी हो गए हैं, उनमें से अधिकांश ने साधारण घरों ही में जन्म लिया है। वे ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा तथा अपने असामान्य अध्यवसाय द्वारा निम्न परिस्थिति से उन्नतावस्था को प्राप्त हुए हैं। बहुत से महापुरुष तो इतने विपन्न परिवारों में पैदा हुए, कि वहाँ उनकी शिक्षा-दीक्षा की तो बात ही क्या, दोनों समय भरपेट अन्न मिलने में भी सन्देह था। उन घरों में चक्की नित्य चान्द्रायण व्रत करती और चूल्हा अग्निदेव से प्रायः असहयोग-सा ही रखता था। पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी ऐसे ही नर-रत्नों में से थे।

ईश्वरचन्द्रजी के पिता पं० ठाकुरदासजी का जन्म, हुगली ज़िले के वनमालीपुर ग्राम में हुआ था। ये पाँच भाई-बहिन थे, जिनका पालन-पोषण न कर सकने के कारण, उनके पिता रामजय तर्कभूषण घर-बार छोड़कर निकल गए थे। पीछे उनकी आश्रय-हीना माता दुर्गावती चर्खा कात कर ज्यों-त्यों उनका पालन-पोषण करने लगीं। फिर भी उनके अकेले चर्खे की आय से छै व्यक्तियों का पेट-पालन कहाँ तक हो सकता था। अन्त में अधीर होकर ठाकुरदासजी की माता ने अपने पिता उमापति का आश्रय लिया। वहाँ उनके योग-क्षेम की सामान्य व्यवस्था हो गई। विपत्ति कभी अकेली नहीं आया करती। दुर्गावती को अपने बच्चों सहित पितृ-परिवार में आए थोड़े ही दिन बीते थे, कि उनकी भावजें अकारण ही उनसे ईर्ष्या करने लगीं। यह देख दुर्गावती ने अपने पिता का घर
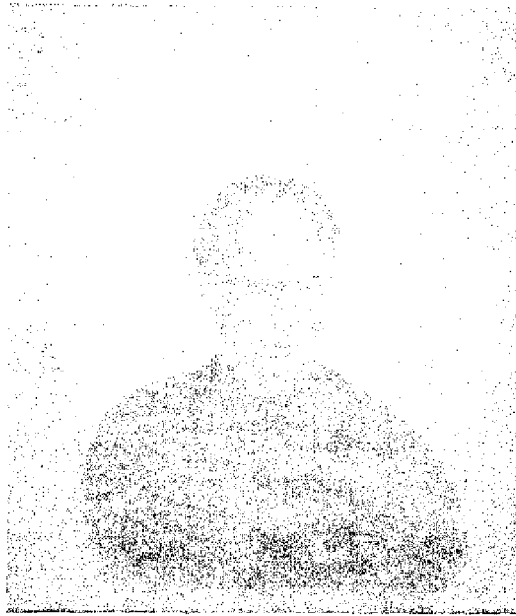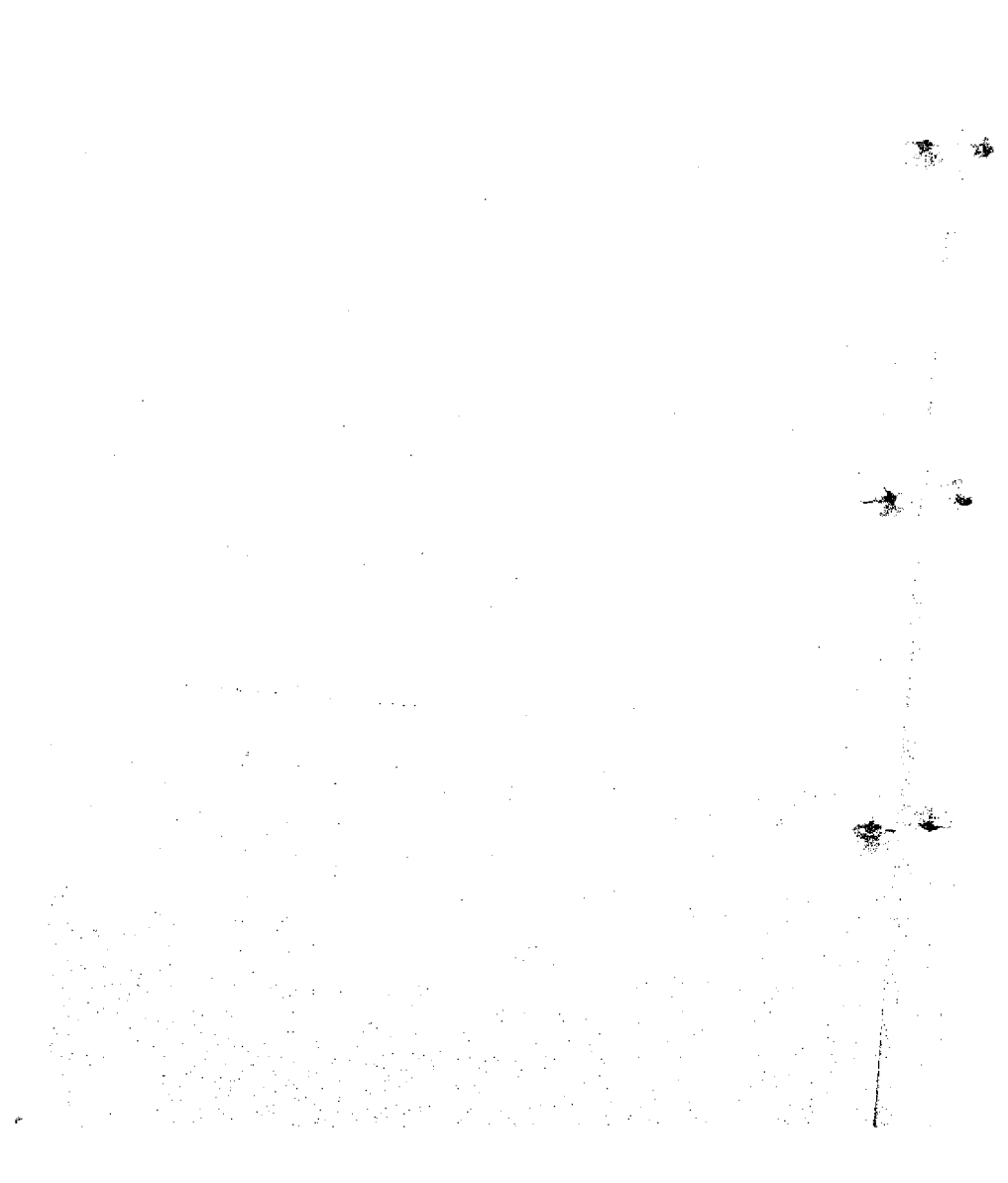
भी छोड़ दिया और वह अलग एक झोंपड़ी में रह कर विपत्ति के दिन काटने लगीं। पुत्री की यह दुरवस्था देख पं० उमापति को अत्यन्त कष्ट होता, पर वे विवश थे। पुत्र और पुत्र-वधुओं के आगे उनकी कुछ न चलती थी। फिर भी वे गुप्तरूप से दुर्गावती की थोड़ी बहुत सहायता करते रहते।

बालक ठाकुरदास से माता की यह दुर्दशा न देखी गई और वे पन्द्रह वर्ष की छोटी अवस्था ही में, धन कमाने की इच्छा से कलकत्ते चले गए। वहाँ उनके एक दूर के सम्बन्धी जगमोहन राय न्यायालंकार रहते थे। ठाकुरदासजी उन्हीं के घर जाकर ठहरे। जगमोहनजी ने ठाकुरदास से द्रव्योपार्जन के बदले विद्या प्राप्त करने के लिए आग्रह किया। इस पर वे सहमत हो गए और उन्होंने न्यायालंकारजी के प्रबन्ध से उन्हीं के एक मित्र के घर अँगरेज़ी पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। मित्र महाशय सारे दिन तो अपना काम करते और दिन छिपने पर ठाकुरदासजी को पढ़ाते थे। शाम के वक्त ठाकुर-दासजी को पढ़ते-पढ़ते अतिकाल हो जाता था। जब तक वे लौटकर घर आते, तब तक वहाँ सब लोग खा-पीकर सो रहते थे। ऐसी दशा में बेचारे ठाकुरदास को दिन में केवल एक ही समय भोजन मिलता। एक बार खाने, पढ़ने में परि-श्रम करने और माता तथा भाई-बहिनों की हीन दशा से चिन्तित रहने के कारण, ठाकुरदासजी का स्वास्थ्य गिरने लगा, उनका शरीर बहुत कृश हो गया। फिर भी सब विपत्तियों को झेलते और असुविधाओं को ठेलते हुए, वे निरन्तर विद्या-ध्ययन करते ही रहे।

ठाकुरदासजी ने अपने प्रचुर परिश्रम और अनवरत अध्यवसाय द्वारा अल्पकाल ही में अच्छी योग्यता सम्पादन

करती पठन-पाठन से जो समय बचता, उसमें वे धनोपार्जन के लिए उद्योग करते। इस भाँति उनको २) मासिक की आय भी होने लगी। उन दिनों भारत में खाद्यपदार्थों का भाव बहुत सस्ता था, दो रुपये में खान-पान की बहुत कुछ सामग्री उपलब्ध हो सकती थी। ठाकुरदासजी ने उन रुपयों को प्रति मास माता के पास भेजना प्रारम्भ कर दिया, जिससे उस बेचारी को बहुत कुछ सहायता मिलने लगी। इन्हीं दिनों ठाकुरदास के पिता रामजय भी घर लौट आए। अपने पुत्र की श्रमशीलता देख उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। कुछ दिनों पश्चात् ठाकुरदासजी का वेतन बढ़कर पाँच रुपये और फिर आठ रुपए मासिक हो गया।

इस समय ठाकुरदासजी की अवस्था चौबीस साल की हो चुकी थी। अतः रामजय ने उनका विवाह कर दिया। गो-घाट निवासी पं० रमाकान्त तर्कवागीश की सद्गुणशीला सौभाग्यवती कन्या भगवती के साथ उनका पाणिग्रहण-संस्कार हो गया। इन्हीं भगवती देवी की पवित्र कोख से सन् १८२० ई० की २६ वीं सितम्बर को ईश्वरचन्द्र का जन्म हुआ। "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" की कहावत के अनुसार बचपन ही से विद्यासागर में अनुपम गुणों की झलक दिखाई देने लगी। उनके खेल-कूद, बात-चीत सब में महत्ता और गम्भीरता का आभास परिलक्षित होता था। ईश्वरचन्द्र में बालकोचित चञ्चलता थी, पर शिष्टता की सीमा के भीतर। वे खेल-कूद भी करते थे तो शान्ति और बुद्धिमत्ता के साथ। माता-पिता ईश्वरचन्द्र का बड़े लाड़-चाव से लालन-पालन करने लगे। बाल्यकाल ही से ईश्वरचन्द्र की चित्त-वृत्ति पढ़ने-लिखने की ओर आकृष्ट दिखाई देती थी,

इसीलिए ठाकुरदासजी ने पाँच वर्ष की अवस्था ही में ईश्वर-चन्द्र को पढ़ने के लिए बिठा दिया। परन्तु अभाग्यवश वे उसी समय बीमार पड़ गए और लगभग छै मास तक रोग-शैया पर पड़े रहे। नीरोग होने पर उन्हें पुनः पाठशाला में प्रविष्ट कराया गया। ईश्वरचन्द्र ने अपनी असाधारण मेधा और सराहनीय सुबुद्धि द्वारा थोड़े ही दिनों में आशातीत उन्नति कर, अपने अध्यापक वर्ग को आश्चर्य में डाल दिया। उन्हें जो कुछ बताया जाता उसे वे तुरन्त याद कर लेते थे। स्मरण किए हुए को भूलना तो वे जानते ही न थे। ईश्वरचन्द्र की अद्भुत धारणा और अनोखी स्मरणशक्ति की सभी लोग सराहना करते थे। अध्यापक लोग भी ईश्वरचन्द्र पर अन्य समस्त शिष्यों की अपेक्षा अधिक प्रेम रखते और उन्हें हृदय से चाहते थे, यहाँ तक कि वे पाठशाला का समय समाप्त हो जाने पर भी उन्हें पढ़ाते रहते और फिर उनको घर तक पहुँचाने भी जाते।

एक बार ईश्वरचन्द्र अपने पिता के साथ कलकत्ते गए। मार्ग में उन्होंने मीलों और फ़र्लांगों के पत्थरों पर खुदे हुए नम्बरों को देख-देखकर ही अंगरेज़ी के अंक सीख लिए। इस प्रकार बालक ईश्वरचन्द्र ने अपनी प्रखर प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया। एक दिन की घटना है, कि ईश्वरचन्द्र के पिता बैठे हुए अपने आफ़िस के बिलों का मिलान कर रहे थे। उस समय बालक ईश्वरचन्द्र पास ही खड़े उनके क्रिया-कलाप को गम्भीरता-पूर्वक देखते रहे और थोड़ी देर में उन्होंने ठाकुरदास के काम को भली भाँति समझ लिया। इसके बाद ईश्वरचन्द्र कहने लगे—"पिताजी, लाइये बिलों का मिलान मैं करूँ।" इस पर ठाकुरदास हँस पड़े, उन्होंने पहले तो ईश्वरचन्द्र की बात को कोरा बाल-विनोद ही समझा,

परन्तु जब उन्होंने एक बिल का ठीक-ठीक मिलान करके दिखा दिया, तो ठाकुरदास के आश्चर्य की सीमा न रही। उनके हृदय में वात्सल्य का समुद्र उमड़ आया और उन्होंने बालक को प्रेम-पूर्वक हृदय से लगा लिया।

ठाकुरदास ने ईश्वरचन्द्र की कुशाग्र बुद्धि देख, उसे उच्च शिक्षा दिलाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। वे अपने भविष्य के सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएँ करने लगे। उन्होंने ईश्वरचन्द्र के ऊपर अपने भावी सुखों की सृष्टि रचनी प्रारम्भ करदी और वह बड़े-बड़े मंसूबे बाँधने लगे। अब ठाकुरदास ने ईश्वरचन्द्र को कलकत्ते की एक पाठशाला में प्रविष्ट करा दिया। वहाँ कुछ ही दिनों बाद ईश्वरचन्द्र फिर बीमार हो गए, जिससे उनका पढ़ना-लिखना बन्द हो गया। स्वस्थ हो जाने पर ईश्वरचन्द्र को संस्कृत कालेज में भर्ती करा दिया गया, जहाँ पर वह व्याकरण का अध्ययन करने लगे। पढ़ाने-लिखाने के साथ ही ठाकुरदास उनके आचार-व्यवहार का पूरा ध्यान रखते थे। वह उनको प्रातःकाल स्वयं कालेज पहुँचाने जाते और संध्या समय साथ लिवाकर लाते।

प्रायः देखा जाता है, कालेजों में पढ़नेवाले बालक अधिकांश विलासी और फ़ैशन-परस्त हो जाते हैं, पर ईश्वर-चन्द्र को ये बातें छू भी नहीं गई थीं। उनका पूरा समय विद्याध्ययन में व्यतीत होता था। अन्य लड़कों की भाँति सांसारिक प्रपंचों से उनका कोई सम्बन्ध न था। ईश्वरचन्द्र दिन के अतिरिक्त रात को भी बारह बजे तक पुस्तकों के साथ जुटे रहते थे। जब नींद अधिक सताती, तब वह अपनी आँखों में सरसों का तेल लगा लेते, जिसकी पीड़ा से निद्रा तुरन्त भाग जाती और ईश्वरचन्द्र फिर अपना अभ्यास

समय तक सिविलियनों के लिए प्रतियोगिता परीक्षा नियुक्त नहीं की गई थी। हालेवर कालेज में पढ़ कर देशी भाषाओं की परीक्षा देने के लिए लोगों को इँगलैंड से यहाँ आना पड़ता था। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर परीक्षक के काम को बड़ी सचाई के साथ पूरा करते थे। वे न तो कभी किसी के अनुरोध या आग्रह के कारण रिआयत करते और न किसी का अन्याय-पूर्वक गला ही घोटते थे।

जिस परीक्षा के ईश्वरचन्द्र परीक्षक थे, उसके लिए अँगरेज़ी जानना अत्यावश्यक था। इसीलिए उन्हें उसका भी अभ्यास करना पड़ा। उन्होंने १५) मासिक पर अपने लिए अँगरेज़ी पढ़ाने को एक अध्यापक रक्खा। पचास रुपये मासिक की आय होने पर भी विद्यासागर के संकटों का प्रतीकार नहीं हुआ, अब भी उनको ज्यों-त्यों कर बड़ी कठिनता से जीवन-निर्वाह करना पड़ता। कारण यह कि, पचास में से पन्द्रह तो वह अँगरेज़ी पढ़ाने वाले अध्यापक को दे देते और २०) मासिक घर के लिए भेज देते थे। शेष थोड़ी-सी पूँजी ही में उनको अपने चचेरे, फुफेरे और सहोदर सब मिला कर सात भाइयों के साथ गुज़र करनी पड़ती थी। धन के साथ ही विद्यासागर के पास समय का भी अभाव रहता था। थोड़े ही से समय में ईश्वरचन्द्र को कालेज में शिक्षा देना, स्वयं पढ़ना और प्राइवेट तौर से अपने अनेक मित्रों को पढ़ाना पड़ता, जिसके कारण विश्राम या मनो-विनोद के लिए उन्हें बिलकुल समय न मिलता था। विद्यासागर बड़ी संकट-पूर्ण अवस्था में थे, फिर भी वे हर समय प्रसन्न ही रहते। इन्हीं दिनों आपने अपने एक मित्र के लिए सरलतापूर्वक संस्कृत-ज्ञान कराने के उद्देश्य से "व्याकरण की उपक्रमणिका" नामक

बड़ी सुन्दर पुस्तक तैयार की। उस हस्तलिखित पुस्तक पर ही वे अपने मित्र को पढ़ाया करते थे।

विद्यासागर ने तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंग्ज से मिल कर बङ्गाल में लगभग एक सौ बँगला पाठशालाएँ खुलवाईं। न्यायप्रिय और सत्यनिष्ठ होने के साथ ही ईश्वरचन्द्र उदार एवं स्वार्थत्यागी भी बड़े थे। उस समय संस्कृत पाठशाला के प्रथम तथा द्वितीय अध्यापकों के स्थान रिक्त हुए थे। पाठशाला के प्रबन्धकर्ताओं ने इनसे प्रथमाध्यापक-पद स्वीकार करने के लिए आग्रह किया। इस पर इन्होंने उक्त पद के लिए अपने को अयोग्य बताते हुए, तारानाथ तर्कवागीश को उस स्थान पर नियुक्त करने के लिए सम्मति दी। केवल सम्मति ही नहीं दी, प्रत्युत स्वयं एक मित्र को साथ ले, वह तर्कवागीशजी के गाँव पहुँचे और आग्रह तथा अनुनय-विनय करके उन्हें उस कार्य-भार को सम्भालने के लिए उद्यत किया। भला इससे अधिक उदारता तथा मानसिक उच्चता का ज्वलन्त उदाहरण और क्या हो सकता है।

ईश्वरचन्द्र अपने परिवार, विशेषकर माता-पिता में कितनी अगाध श्रद्धा और अटल भक्ति रखते थे, यह बात निम्नलिखित घटना से भली भाँति प्रकट होती है। एक समय इनकी माता ने इन्हें बुलाया। माता का बुलावा आते ही विद्यासागर ने कालेज के अधिकारियों से अवकाश-प्राप्ति के लिए आवेदन किया, परन्तु किसी कारण वश इनका प्रार्थना-पत्र स्वीकृत न हुआ। विद्यासागर उस दिन रात-भर न सोए और न जाने क्या-क्या सोचते रहे। दूसरे दिन प्रातःकाल ही वह अधिकारियों के पास पहुँचे और बोले—"या तो मुझे अवकाश दीजिए अन्यथा त्याग-पत्र स्वीकार कीजिए।

माता की आज्ञा के आगे मुझे नौकरी की लेशमात्र चिन्ता नहीं है।" विद्यासागर को इस भाँति नौकरी छोड़ने के लिए उद्यत देख, अधिकारियों ने उन्हें अवकाश देदिया। इस वाद-विवाद में दिन बहुत थोड़ा रह गया, पर ईश्वरचन्द्र को तो आज ही मातृ-चरणों में पहुँचना था। वह कुछ भी सोच-विचार न कर तुरन्त घर की ओर चल दिए। बरसात के दिन थे, कोई सवारी भी न थी, मार्ग में कई छोटे-मोटे नालों तथा दामोदर नामक एक बड़े नद को भी पार करना था। ईश्वर-चन्द्र ने इन सब अड़चनों की कुछ भी चिन्ता न की और वे मातृ-भक्ति के आवेश में सीधे घर चल दिए। जिस समय विद्यासागर दामोदर नद पर पहुँचे तो सूर्य अस्त हो चुका था, नाविक भी घाट बन्द कर घर चला गया था। विद्या-सागर कुछ देर तो खड़े-खड़े सोच-विचार करते रहे। अन्त में 'जयजननि' कह कर नद के प्रबल प्रवाह में कूद पड़े। विद्यासागर को कुछ अच्छा तैरना नहीं आता था, फिर भी आश्चर्य है, कि वह उस नद में से सकुशल पार हो गए, और लगभग दो घण्टे रात बीतने पर माता के चरणों में जा पहुँचे।

अपने अध्यापन-काल में विद्यासागर ने कालेज के नियमों और पाठ्य पुस्तकों में अनेक परिवर्तन कराए। कालेज के सेक्रेटरी रसमयदत्त को प्रबन्ध-विभाग में विद्यासागरजी का हस्तक्षेप अच्छा न लगा और इसी आधार को लेकर सेक्रे-टरी तथा विद्यासागर में कुछ मनोमालिन्य भी हो गया। इस पर स्वाभिमानी, दृढ़प्रतिज्ञ वीर विद्यासागर ने अपनी आर्थिक असुविधाओं की कुछ भी चिन्ता न कर, तुरन्त त्याग-पत्र दे दिया। नौकरी छूट जाने पर विद्यासागर को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वह स्वयं कष्ट सहते रहे, पर माता-

पिता को तनक भी दुःख न होने दिया जहाँ तहाँ से ५०) मासिक उधार लेकर माता-पिता के लिए बराबर भेजते रहे

कुछ दिनों बेकार रहने के पश्चात् विद्यासागर का भाग्य चेता और वह १५०) मासिक वेतन पर संस्कृत-कालेज के सेक्रेटरी नियुक्त हो गए। इस कालेज में भी विद्यासागर ने पाठ्य-ग्रन्थों में बहुत-सी अदल-बदल कराई। अनेक गन्दी और अश्लील पुस्तकों को हटवा कर उनके स्थान में रामायण, हितोपदेश आदि शिक्षाप्रद पुस्तकें नियत कराईं। अनेक उपयोगी विषयों का संग्रह करके ऋजुपाठ नामक सुन्दर पुस्तक के तीन भाग उन्होंने स्वयं तैयार किए। और भी बहुत से उपयोगी, पर दुष्प्राप्य संस्कृत-ग्रन्थों का पुनरुद्धार और अन्वेषण कराया।

इसके अनन्तर विद्यासागर की कार्य-दक्षता और उत्साह-शीलता देख, उन्हें विद्यालय के अध्यक्ष पद पर नियुक्त कर दिया गया। अब इन्हें ३००) मासिक तो कालेज से तथा २००) मासिक प्रान्तीय पाठशालाओं के निरीक्षक पद के लिए मिलने लगे। इसी समय शिक्षा-विभाग ने संस्कृत कालेज को अनुपयोगी सिद्ध कर उसे हटा देने का प्रस्ताव रक्खा। इस प्रस्ताव का विद्यासागर ने बड़े जोरों से प्रतिवाद किया और युक्ति-प्रमाणों द्वारा विद्यालय की उपयोगिता सिद्ध कर उक्त प्रस्ताव का खण्डन कर दिया, जिससे सदा-सर्वदा के लिए संस्कृत-शिक्षा की नींव दृढ़ हो गई।

सन् १८५४ में भारतीय शिक्षा प्रचार के लिए इंगलैण्ड में बहुत-सा धन स्वीकृत हुआ था। इस धन का सदुपयोग करने के लिए भी ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को ही चुना गया। इन्होंने भारत में शिक्षा का प्रचार और विस्तार करने के लिए

प्राणपण से प्रयत्न किया। स्थान-स्थान पर कन्यापाठशालाएँ खुलवाईं। स्त्री-शिक्षा की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। कुछ लोगों ने स्त्री-शिक्षा का विरोध भी किया पर विद्यासागर के आगे विरोधियों की एक न चली। कलकत्ता-यूनीवर्सिटी स्थापित होने पर विद्यासागर उसकी एम० ए० क्लास के परीक्षक नियुक्त हुए।

विद्यासागर की निर्भीकता, आत्म-गौरव-रक्षा, न्याय-निष्ठा आदि विशेषताओं को देख, बहुत-से लोग अकारण ही उनसे जला करते थे। ऐसे "देखि न सकहिं पराइ विभूती" वालों में तत्कालीन शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर यंग साहब भी थे। उदारचेता विद्यासागर से इनकी कभी न बनती थी। दोनों में अग्नि-जल के समान विरोधी गुणों का सन्निवेश था। विद्यासागर सदा सचाई का समादर करते थे, परन्तु यंग साहब कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर आडम्बर से भी काम लेने में दोष न देखते थे। विद्यासागर अपना कर्त्तव्य पूर्ण रीति के पालन करते थे, इसी लिए उन्हें कभी किसी अधिकारी से दबना न पड़ता था। यही उनके और यंग साहब के विरोध का मूल कारण था। जब विरोध ने उग्र रूप धारण करलिया तो ईश्वरचन्द्र ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। वह अधिकारियों को अधिकारी की दृष्टि ही से देखते थे, 'अन्नदाता' या 'माई-बाप' न समझते थे। ईश्वर पर उन्हें पूर्ण विश्वास था, इसी कारण उनको ५००) मासिक की आय ठुकराने में कुछ भी हिचकिचाहट न हुई। त्याग-पत्र वापस लेने के लिए अधिकारियों ने उन्हें बहुत कुछ समझाया पर वह अपने निश्चय पर अचल और अटल बने रहे।

सन् १८५८ ई० में विद्यासागर ने सेवावृत्ति से छुटकारा पाया और अब वह मनुष्य ही नहीं प्रत्युत प्राणिमात्र के हित-साधन के लिए सतत प्रयत्न करने लगे। सर्व प्रथम विद्यासागर ने साहित्यिक क्षेत्र में से झाड़-झंखाड़ और कूड़ा-करकट दूर कर, उसे सुन्दर फूल-फल देनेवाले वृक्षों से विभूषित किया। विद्यासागर ने बँगला-साहित्य के दवाग्निदग्ध बीहड़ को लहलहाते हुए उद्यान के रूप में परिणत कर दिया। उन्होंने सब से पहले "वासुदेव-चरित्र" नामक एक गद्य-ग्रन्थ लिखा, पर दुर्भाग्य से वह प्रसिद्धि न पा सका। इसके पीछे तो विद्यासागर ने अपनी नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा-शक्ति द्वारा अनेक अमूल्य ग्रन्थों की रचना की। आपने वैतालपचीसी, जीवन-चरित्र, बोधोदय, शकुन्तला, कथामाला, सीता-वनवास, चरितावली, आख्यान मंजरी, भ्रान्ति-विलास, राम-राज्याभिषेक, व्याकरण-कौमुदी, वर्ण-परिचय प्रभृति अनुवादित और मौलिक कुल मिलाकर ५२ पुस्तकें लिखीं। विद्यासागर ने स्वलिखित पुस्तकों के प्रकाशन और प्राचीन पोथियों के जीर्णोद्धार की सदभिलाषा से कुछ रुपया उधार लेकर एक प्रेस भी खोला, जिसका काम सुचारु रूप से चलने लगा। विद्यासागर ने "संस्कृत डिपोज़िटरी" नामक एक अच्छा पुस्तकालय भी स्थापित किया जिसमें विद्यार्थियों तथा अन्य विद्याप्रेमियों को अध्ययन के लिए अच्छी सुविधा थी।

विद्यासागर बचपन ही से उदार हृदय और लोक-हितैषी थे। शिक्षा-प्रचार को तो वह अपना मुख्य ध्येय समझते थे। उन्होंने अपनी जन्मभूमि में बालक-बालिकाओं और श्रम-जीवियों के लिए अपनी माता के नाम पर "भगवती-विद्यालय"

नाम की एक पाठशाला खोली, जो अब भी विद्यासागर के यशः सौरभ का प्रसार करती हुई, बड़ा अच्छा कार्य कर रही है। ईश्वरचन्द्र इसके लिए ३००) मासिक व्यय करते थे।

जिन दिनों विद्यासागर ने नौकरी ठुकराकर दासत्व से मुक्ति पाई, उन्हीं दिनों कलकत्ते के कुछ धन-कुबेरों ने मिलकर 'कलकत्ता-ट्रेनिंग स्कूल' नामक एक विद्यालय खोला। लोगों ने कुछ दिनों तक तो उसे चलाया, पर शिक्षा-संस्थाओं के सम्बन्ध में विशेष अनुभव न होने के कारण वे उसमें विशेष सफलता प्राप्त न कर सके। तब उसका प्रबन्ध-भार विद्यासागर को सौंपा गया। विद्यासागर की प्रबन्ध-पटुता और कार्य-दक्षता से थोड़े ही दिनों में विद्यालय चमक उठा और बढ़ते-बढ़ते उसने कालेज का रूप धारण कर लिया।

ईश्वरचन्द्र ने स्त्री-शिक्षा के लिए भी पूर्ण प्रयत्न किया था। उन्होंने अपने अथक परिश्रम और अनवरत अध्यवसाय द्वारा पचासों पुत्री-पाठशालाएँ खुलवाईं। सच पूछा जाय तो इनके और यंग साहब के वैमनस्य का कारण ये कन्या-विद्यालय ही थे। दूसरे लोगों ने भी विद्यासागर की स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी योजना का पूर्ण विरोध किया, पर वे अपने निश्चय पर डटे हुए, प्राणपण से उसका प्रचार करते रहे। जब अब इस प्रकाशपूर्ण युग में भी स्त्रियों की शिक्षा और स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में कुछ लोगों के संकीर्ण और अनुदार विचार हैं, तब उस समय का तो कहना ही क्या! विद्यासागर जैसा न्यायपरायण व्यक्ति भला इस अन्याय को कैसे सहन कर सकता था। उन्होंने रूढ़िवादियों द्वारा घोर विरोध किए जाने पर भी स्त्री-शिक्षा का पूर्ण प्रचार किया।

विधवाओं की दयनीय दशा देख कर तो विद्यासागर का हृदय रो उठा। उन्होंने विधवाविवाह के पक्ष में भी ऊँची आवाज़ उठाई और शास्त्रों एवं स्मृतियों के प्रमाणों तथा पौराणिक आख्यानों के आधार पर विधवाविवाह को वेद एवं शास्त्र-सम्मत सिद्ध किया। युक्तियों द्वारा भी उसकी आवश्यकता और उपयोगिता बतलाई। उन्होंने अपने सराहनीय साहस और आदरणीय उद्योग द्वारा सन् १८५६ ई० में व्यवस्थापिका परिषद् से विधवाविवाह को राजनियमानुसार वैध घोषित करा लिया। पीछे इस क़ानून को कार्यरूप में परिणत कराने के लिए आपने कई विधवाविवाह कराए भी। विद्यासागर ने अपने जीवन में लगभग सौ विधवाओं को नारकीय यातनाओं से छुड़ाकर, पुनः सधवा कहलाने का अधिकार प्रदान कराया।

दयालुता और लोक-सेवा के भाव तो विद्यासागर में ठूँस-ठूँस कर भरे थे। वह स्वयं भारी से भारी संकट सह लेते, पर दूसरों के दुःख देखकर उनका हृदय तुरन्त द्रवित हो जाता था। विद्यासागर ने अनेक बार निर्धन एवं असहाय साथियों को सहायता देकर अपनी उदारता का प्रशंसनीय परिचय दिया था, उनके जीवन से संबंधित ऐसी अनेक घटनाएँ हैं। एक समय की बात है, विद्यासागर के दत्त महाशय नामक एक मित्र बैरिस्टरी पास करने विलायत गए। वहाँ उनको आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। दत्त ने विद्यासागर से आर्थिक सहायता के लिए प्रार्थना की। विद्यासागर के पास उस समय रुपया न था, फिर भी उन्होंने अपने प्रेस का एक हिस्सा ६०००) में बेच कर कुल रुपया दत्त महाशय के पास भेज दिया। सन् १८७३ के भयंकर दुर्भिक्ष में

विद्यासागर ने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता में लगा दी थी। उस समय आपने ३२ आदमी केवल भोजन बनाने के लिए नियत किए, जो दिन-रात लगातार रोटी बनाकर भूखों को खिलाया करते थे। उन्हीं दिनों बर्दवान ज़िले में महामारी का भीषण प्रकोप होने पर विद्यासागर ने अपने उद्योग से अनेक निःशुल्क चिकित्सालय खुलवाए तथा एक औषधालय अपने व्यय से भी खोला। विद्यासागर की इस व्यवस्था से जनता को बड़ा लाभ पहुँचा।

एक दिन टहलने जाते समय मार्ग में विद्यासागर से किसी बालक ने पैसा माँगा। ईश्वरचन्द्र ने बालक को होनहार जान, एक रुपया दे दिया। कुछ समय में उस श्रमशील और उद्योगी बालक ने उसी एक रुपये की पूँजी से बढ़ाते-बढ़ाते एक छोटी-सी दूकान कर ली। संयोग वश विद्यासागर एक बार फिर उधर होकर निकले, तो उस बालक ने इनका बड़ा आदर-सत्कार किया और अपनी दूकान दिखाते हुए कहा—"यह सब आपके उस एक रुपये की ही विभूति है।" विद्यासागर उस बालक की कार्य-कुशलता और मितव्ययता देख बहुत प्रसन्न हुए और फिर उसको बहुत-सा धन देकर, बड़ा व्यापार करने के लिए उत्साहित किया।

विद्यासागर की दयालुता, उदारता आदि की प्रशंसा कहाँ तक की जाय। उनका पूरा जीवन ही लोक-हितैषिता की घटनाओं से ओत-प्रोत है। उनका गुण-गान करना सूर्य को दीपक दिखाना है।

लगातार पचास साल प्रशंसनीय लोक-सेवा कर सन् १८९१ ई० के श्रावण मास में, विद्यासागर स्वर्गवासी

हुए। आपने अपने पीछे नारायणचन्द्र विद्यारत्न नामक एक पुत्र और हेमलता, कुमुदिनी, विनोदिनी तथा शरत्कुमारी नामक चार कन्याओं को छोड़ा।

आज विद्यासागर इस जगत् में नहीं हैं, पर उनका अमर नाम बंगाल ही में नहीं भारत के कोने-कोने में व्याप्त है। उनके उदारतापूर्ण देशोपकार के भार से हम लोग कभी उऋण नहीं हो सकते।
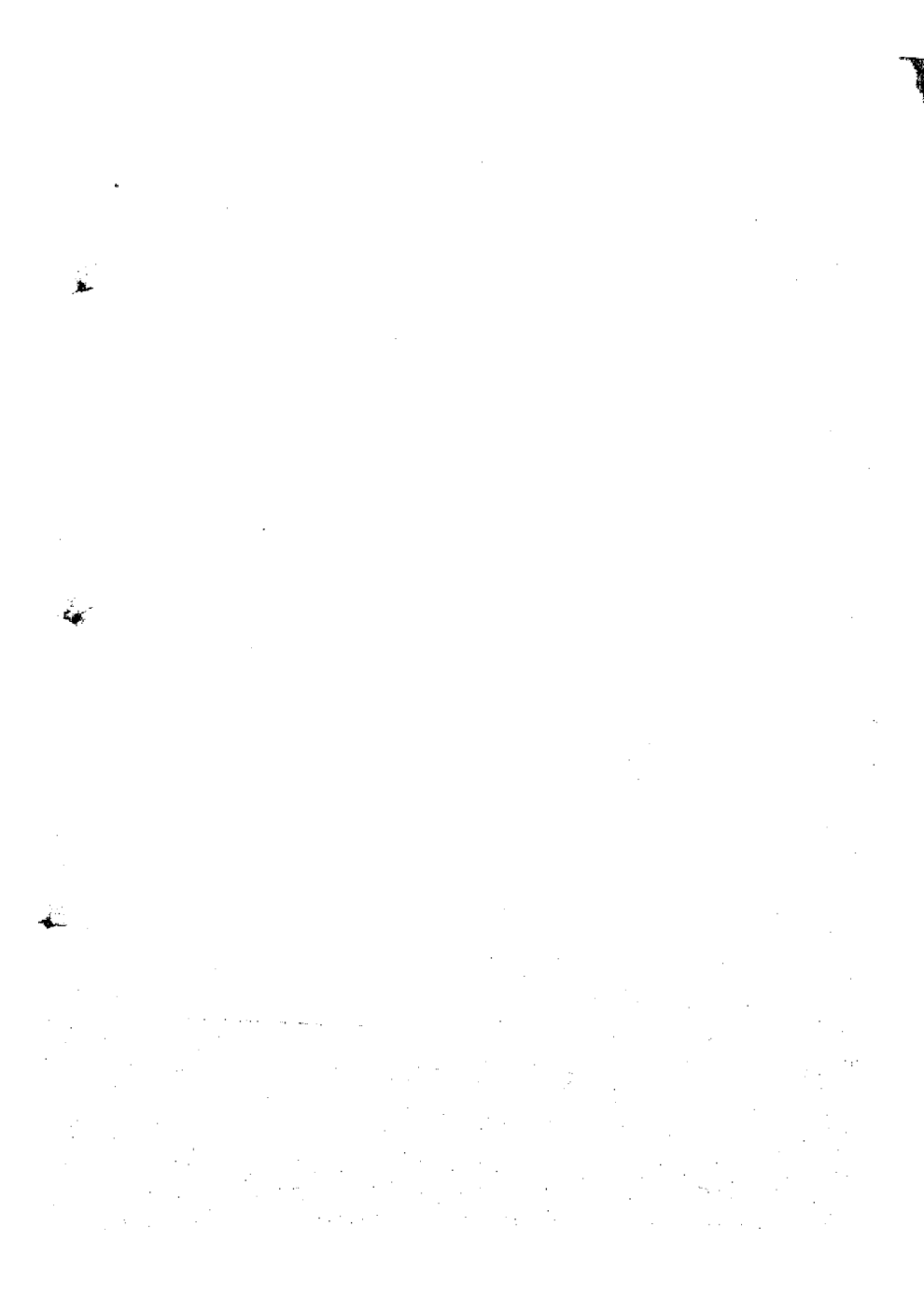
महादेव गोविन्द रानडे

महादेव गोविन्द रानडे

जगत् में जीना उसी का सार्थक है जो दूसरों के लिए जीवित रहता है। अपना पेट तो सभी भर लेते हैं। संसार में सैकड़ों राजे-महाराजे और हज़ारों धनिक ऐसे हो गए, जिन का कोई नाम भी नहीं जानता। साथ ही अनेक महापुरुष निर्धन होते हुए भी लोकोपकार के ऐसे कार्य कर गए, जिनके कारण, वे मर कर भी अमर हैं। आबाल-वृद्ध उनको जानते-मानते और बड़ी श्रद्धा से स्मरण करते हैं। ठीक भी है, संसार तो अपने सच्चे सेवक या उपकारी ही को जानता है। कोई अपने घर में करोड़पति बना बैठा रहे, परन्तु जब लोगों को उससे कुछ लाभ ही नहीं तो उनके लिए उस का करोड़पति होना न होना बराबर है। महादेव गोविन्द रानडे का नाम इसीलिए प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने जीवन में संसार की भलाई के अनेक काम किए। रानडे ने प्रजा के स्वत्वों की पूर्ण रीति से रक्षा करते हुए अपना पदोचित कर्तव्य बड़ी ही ईमानदारी तथा तत्परता से पालन किया। यही कारण है कि उनका नाम संसार में अमर हो गया। नहीं तो उनसे पहले और पीछे सैकड़ों जज और सबजज हो गए, परन्तु कोई उनका नाम भी नहीं जनता।

रानडे के पिता गोविन्दराव कोल्हापुर रियासत में एक प्रभावशाली अधिकारी थे। रानडे का जन्म १८४२ ई० के जनवरी मास में नासिक ज़िले के निफाड नामक ग्राम में हुआ था। बाल्यकाल में वह अत्यन्त संकोची और सरल स्वभाव के

थे। बालोचित चञ्चलता का उन में प्रायः अभाव ही था। उस समय रानडे की भोली-भाली आकृति देखकर कोई कल्पना भी न कर सकता था कि किसी दिन यह बालक उच्च राज-पद पर प्रतिष्ठित होकर, देशहित-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकेगा। किसी को क्या पता था, कि सरलता के आवरण से ढका हुआ यह रत्न किसी दिन अपनी पूर्ण प्रभा से जगत् को जगमगा देगा। अस्तु, जब महादेव गोविन्द रानडे पाँच साल के हुए तो पढ़ने के लिए एक मरहठी पाठशाला में भेजे गए। वहाँ यह बड़े मनोयोग पूर्वक विद्याभ्यास करने लगे। अन्य सहपाठियों की भाँति रानडे अपना समय खेलकूद में कभी न गँवाते प्रत्युत एक-एक क्षण पढ़ने-लिखने में लगाते थे। विद्यालय आते-जाते सड़क की धूलि में लिखकर गणितादि के प्रश्न हल करते और कण्ठाग्र करने योग्य विषय को चलते-चलते रट लेते थे।

प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर लेने पर रानडे कोल्हापुर के हाईस्कूल में भर्ती किए गये। इस समय इनकी अवस्था ग्यारह साल की थी। इसी समय रानडे की माता का स्वर्गवास हो गया। इस दुःखमय घटना से बालक रानडे की कोमल भावनाओं को बड़ी ठेस पहुँची। कुछ काल के लिए शोकाकुल बालक का पढ़ना-लिखना बन्द-सा हो गया। प्रकृति के नियमानुसार कुछ दिनों में वियोग-विषाद विस्मृत होने लगा। अब रानडे एलफ़िन्सटन इन्स्टीट्यूशन (वर्त्तमान एलफिन्स्टन कालेज) में प्रविष्ट हुए। वहाँ इन्स्टीट्यूट के मुख्याधिष्ठाता अलेकज़ेण्डर ग्राण्ट महोदय के उदार व्यवहार और सहानुभूति-पूर्ण सहयोग के कारण अल्पकाल ही में रानडे ने आशातीत उन्नति की। थोड़े ही दिनों

में रानडे को तीव्रबुद्धि और अनुपम स्वाध्यायशीलता के कारण १०) मासिक छात्र-वृत्ति मिलने लगी । फिर शीघ्र ही वह वृत्ति २०) मासिक कर दी गई। मैट्रिक पास कर लेने के पश्चात् रानडे 'जूनियर दक्षिण फ़ैलो' निर्वाचित हुए । अब इनको अपने से नीची श्रेणी के विद्यार्थियों को पढ़ाना भी पड़ता था, जिसके पुरस्कार स्वरूप उन्हें ६०) मासिक मिलते थे । रानडे ने अध्यापन-कार्य को ऐसी उत्तमता से किया कि उससे अधिकारियों को बड़ा सन्तोष हुआ । पढ़ना-पढ़ाना दोनों कार्यों को रानडे बड़ी सफलतापूर्वक करते थे। थोड़े दिनों बाद इनको 'सीनियर दक्षिण फ़ैलो' चुन लिया गया, और उनका वेतन १२०) मासिक कर दिया । इसप्रकार अपनी चमत्कारिणी प्रतिभा के कारण, बी० ए० में उत्तीर्ण होने से पूर्व ही रानडे सवासौ रुपए मासिक पाने लगे थे ।

सन् १८६२ ई० में रानडे ने फ़र्स्ट डिवीज़न में बी०ए० पास किया । इसके पश्चात् 'आनर्स परीक्षा' में उत्तीर्ण होने पर उन्हें एक स्वर्ण-पदक और दो सौ रुपए की पुस्तकें पारितोषिक स्वरूप प्रदान की गईं । अध्यापक-मण्डल ने इनकी अनुपम एवं आदर्श योग्यता से प्रसन्न होकर अपनी ओर से इन्हें तीन सौ रुपए की एक घड़ी पुरस्कार स्वरूप दी। सन् १८६५ ई० में रानडे ने इतिहास में एम०ए० पास किया। इसी समय से आप बम्बई यूनिवर्सिटी के फ़ैलो नियत हो गए । अब रानडे ने क़ानून पढ़ना आरम्भ किया और थोड़े ही दिनों में आनर्स के साथ एल-एल० बी० की परीक्षा भी पास करली । रानडे ने रट-रट कर केवल परीक्षाएँ ही पास नहीं की थीं, प्रत्युत अर्थशास्त्र, इतिहास, न्याय, साहित्य, विज्ञान आदि विषयों में उनकी असाधारण गति थी । उनकी विद्वत्ता स्पर्धा करने

योग्य थी। रानडे धुरन्धर लेखकों के उपन्यास और नाटकों का अध्ययन करते थे पर केवल मनोविनोद के लिए नहीं, प्रत्युत उनके पात्रों के आदर्श जीवन और अनुकरणीय चरित्रों से शिक्षा ग्रहण करने के लिए भी। वस्तुतः रानडे ने नाटकों और उपन्यासों में वर्णित महापुरुषों के आदरणीय चरित्रों के अनुरूप ही अपने जीवन को भी बना लिया था। स्वदेश-प्रेम तो उनमें कूट-कूट कर भरा हुआ था। कालेज छोड़ते ही रानडे को शिक्षा-विभाग में २००) मासिक पर मराठी अनुवादक का स्थान मिल गया। उन दिनों पढ़े-लिखों की कमी थी, अतः नौकरी के लिए लोगों को आज-कल की तरह दफ़्तरों की धूल न छाननी पड़ती थी। फिर रानडे जैसे व्युत्पन्न व्यक्ति तो हाथोंहाथ ले लिए जाते थे। अनुवादक का कार्य करने के पश्चात् इनको एलफ़िन्स्टन कालेज में अंगरेज़ी साहित्य के अध्यापक का स्थान दिया गया। इन्होंने इस कार्य को भी बड़ी लगन और योग्यता से किया। अध्यापन के साथ-साथ रानडे अध्ययन भी करते थे, जिसके फलस्वरूप इन्होंने एडवोकेट-परीक्षा भी पास करली।

एडवोकेट हो जाने पर गोविन्द रानडे ने अध्यापन का कार्य छोड़ दिया और बम्बई में पुलिस-मजिस्ट्रेट हो गए। वहाँ से उन्नति करते-करते केवल दो साल के भीतर ही पूना के फ़र्स्ट क्लास क़ायममुक़ाम सदरआला बनाए गए। इस पद पर रानडे को ८००) मासिक वेतन मिलता था। इस समय रानडे की आयु लगभग तीस वर्ष थी। इतनी थोड़ी उम्र में इतने उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर पहुँचाने वाली इनकी असाधारण योग्यता और अनुपम कार्यदक्षता ही थी।

कुछ दिनों बाद रानडे पूना से बदल कर नासिक चले गए। वहाँ उन्होंने समाज-सुधार का कार्य भी आरम्भ कर दिया। सब से पूर्व रानडे ने स्त्री-शिक्षा का कार्य हाथ में लिया। यद्यपि वह सरकारी नौकर होने के कारण निर्भयता पूर्वक सार्वजनिक कार्यों में भाग न ले सकते, फिर भी अपने उद्देश्य की पूर्ति में सतत प्रयत्नवान रहते थे। थोड़े दिनों बाद नासिक से खानदेश के धुले नामक नगर को इनकी बदली हो गई। अतएव नासिक में आरम्भ किया हुआ कार्य अधूरा ही रह गया।

अपने जीवन में जो काम ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने बंगाल के लिए कर दिखाया वही कार्य रानडे ने गुजरात और महाराष्ट्र के लिए किया। समाज-सुधार आदि का सारा कार्य इन्होंने भाषणों और निबन्धों द्वारा ही किया था। तत्कालीन भारत बाल-विवाह, विधवा-विवाह-विरोध, बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि अनेक कुरीतियों और रूढ़ियों का केन्द्र बना हुआ था। उस समय रानडे जैसे उँगलियों पर गिनने योग्य कुछ व्यक्ति ही ऐसे थे, जो इन सब कुप्रथाओं के भयंकर परिणामों को समझते थे। अधिकांश लोग 'लकीर के फ़कीर' बने हुए थे। रानडे के पिता भी रूढ़ियों के बन्धनों से मुक्त न थे। इन्होंने तत्कालीन प्रथा के अनुसार रानडे का विवाह भी केवल बारह वर्ष की अल्पायु में सखूबाई नामक एक बालिका के साथ कर दिया था। उसका परिणाम भी वही हुआ जो होना चाहिए था। अर्थात् असमय में ही सखूबाई क्षयरोग से स्वर्ग सिधार गईं।

इस समय रानडे की अवस्था बत्तीस वर्ष की थी अतः उन्होंने निश्चय कर लिया था कि अब वह विवाह न करेंगे

और यदि करेंगे भी तो विधवा के साथ। उनका कहना था कि बेचारी विधवाओं के लिए पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं है, तो विधुरों के लिए भी यही नियम क्यों लागू नहीं किया जाता। इधर रानडे के तो ये विचार थे, उधर उनके पिता एक योग्य कन्या की खोज में थे। रानडे को पता चला, तो उन्होंने पिता के इस विचार का खूब विरोध किया, परन्तु अन्त में पिता की आज्ञा के आगे उन्हें शिर झुकाना ही पड़ा। फलतः रानडे का विवाह रमाबाई नाम की एक एकादश-वर्षीया कन्या से साथ होगया।

उन दिनों स्त्री-शिक्षा भीषण अपराध समझा जाता था, अतः रमाबाई को पढ़ने-लिखने का अवसर न मिला। हाँ, लज्जा, शील, सन्तोष आदि सद्‌गुणों का उनमें अभाव न था। रानडे ने विवाह के दूसरे ही दिन से रमाबाई को पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। थोड़े ही दिनों में उन्होंने मराठी की अच्छी योग्यता करली और वे कुछ-कुछ अँगरेज़ी भी पढ़ने लगीं। जब रमाबाई की अवस्था अधिक हो गई तो रानडे उन्हें भी अपने साथ रखने लगे। गृह-प्रबन्ध के अतिरिक्त समाज-सुधार सम्बन्धी कार्यों में रमाबाई रानडे का आधा हाथ बँटाती थीं। जहाँ कहीं सभा-समाज में जाने की आवश्यकता होती तो रमाबाई तुरन्त पहुँचतीं। महिला-समाजों में तो उनका पहुँचना और उपदेश देना अनिवार्य-सा ही था। सच पूछिए तो रमाबाई के कारण ही रानडे को स्त्री-समाज-सुधार के काम में आशातीत सफलता प्राप्त हुई थी।

रमाबाई एक आदर्श रमणी थीं। गृहकार्य में तो वह इतनी दक्ष थीं कि उधर से रानडे बिलकुल निश्चिन्त हो गए थे। रानडे अपना मासिक वेतन रमाबाई को सौंप देते,

जिसे वह नियमपूर्वक व्यय किया करतीं और आय का लेखा भी वही रखती थीं। उस अन्धेर-युग में स्त्रियों का पढ़ना-लिखना निस्सन्देह एक अनहोनी बात थी। रमाबाई को पढ़ते-लिखते और सभा-समाजों में भाषण देते देख लोग उन पर व्यंग्य-बाणों की वर्षा किया करते थे, पर रमाबाई सब अपवादों को धीरता से सहन कर लेती थीं। उनकी प्रवृत्ति रानडे की प्रवृत्ति के अनुरूप ही थी। रानडे और रमाबाई में कभी किसी बात पर मतभेद न होता था।

रानडे लोक-सेवा और राज-सेवा दोनों कार्य बड़ी सचाई से करते थे। गवर्नमेण्ट की ओर से इस बात की बड़ी कड़ी जाँच की गई कि, जब रानडे सार्वजनिक कार्यों में इस प्रकार भाग लेते हैं, प्रजाहित-साधन के लिए इतने प्रयत्नशील दिखाई देते हैं तो आश्चर्य नहीं कि वह राज्य के विरुद्ध भी कुछ कार्यवाही करते हों। इसी धारणा के आधार पर रानडे की डाक पर सेन्सर बिठाया गया और उनकी आने-जाने-वाली चिट्ठियाँ बरसों खोल कर पढ़ी गईं, दूसरे उपायों से भी परीक्षा ली गई। बनावटी राजद्रोहात्मक पत्र लिख कर रानडे के नाम भेजे गए, परन्तु उन्होंने तुरन्त ही ऐसे सब पत्र पुलिस के हवाले कर दिए। इस प्रकार जब सरकार का सारा सन्देह निवृत्त हो गया, तो उसने रानडे को बम्बई का प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट बनाया।

कुछ दिनों बाद रानडे पूना और सतारा के न्यायालयों का निरीक्षण करने के लिए स्पेशल जज नियुक्त किए गए। रानडे को इस पद पर आरूढ़ हुए अभी चार ही वर्ष हुए थे कि सन् १८८५ ई० में मिस्टर पोलन, जो स्पेशल जज थे, विलायत चले गए। उनके रिक्त स्थान पर रानडे ही को

नियुक्त किया गया। स्पेशल जज होकर इन्होंने बड़ी योग्यता से कार्य किया। रानडे पञ्चों को बुला कर खाना-पूरी करने-भर के लिए उनके फैसलों की जाँच न करते थे, बल्कि प्रत्येक गाँव में स्वयं जाकर वहाँ की वास्तविक दशा देखते और पंच-फ़ैसलों की पड़ताल करते थे। गाँव आते-जाते रानडे को अनेक अड़चनों का सामना करना पड़ता था। कहीं-कहीं तो बेचारों को पैदल ही जाना पड़ता, पर प्रजा की भलाई के लिए इन्हें इन सब बातों का कुछ भी ख़्याल न होता था। देहात जाते समय रमाबाई भी रानडे के साथ रहती थीं। वे ग्रामीण स्त्रियों से बात-चीत कर उनके दुःख-सुख की बातें पूछतीं और यथासम्भव उनके कष्ट दूर करने का प्रयत्न करतीं। रमाबाई के हृदय में रानडे से भी बढ़कर देश के लिए सहानुभूति थी।

लार्ड डफ़रिन ने भारतीय आर्थिक अवस्था की जाँच के लिए एक कमेटी नियुक्त की थी, उसमें रानडे भी सम्मिलित किए गए। भारतवासियों में से केवल रानडे ही उक्त समिति के सदस्य बनाए गए थे। रानडे अर्थशास्त्र के पण्डित तो थे ही, उन्होंने उस कमेटी का कार्य बड़े अच्छे ढंग से किया। रानडे की बुद्धिमत्ता और कार्य-कुशलता देख डफ़रिन महाशय ने इनको बड़े सम्मान के साथ 'सी० आई० ई०' की उपाधि से अलंकृत किया। अपनी असाधारण योग्यता और कार्य-दक्षता के कारण ये तीन बार बम्बई सरकार की ओर से वहाँ की 'लेजिस्लेटिव कौंसिल' के मेम्बर भी बनाए गए। इसके पश्चात् सन् १८९१ में बम्बई हाईकोर्ट के सुप्रसिद्ध जज श्रीयुत काशीनाथ तैलंग महोदय की मृत्यु हो जाने के कारण उनके रिक्त पद

पर रानडे ही नियुक्त किये गये। इतना उच्च अधिकार प्राप्त करके भी रानडे में अभिमान छू तक न गया था। वे सदैव अपने अधीनस्थ कर्मचारियों—यहाँ तक कि अभियुक्तों से भी—प्रेम-पूर्वक बातें करते थे। उनके मुँह से भूल कर भी कभी कोई कठोर शब्द न निकलता था।

लोक-सेवा के साथ रानडे ने साहित्य-सेवा भी खूब की। अनेक उपयोगी विषयों पर आपने अमूल्य ग्रन्थ लिखे। पूना के प्रसिद्ध पुस्तकालय और प्रार्थना-समाज के विशाल मन्दिर का निर्माण आप ही की सहायता से हुआ। आपने अनेक निबन्ध लिखने के अतिरिक्त 'वसन्त-व्याख्यानमाला' भी स्थापित की, जिसमें अब तक अनेक विद्वानों के महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी भाषण हो चुके हैं। रानडे देशी भाषाओं के बड़े हिमायती थे। उन्होंने बी० ए०, एम० ए० की परीक्षाओं में मराठी और गुजराती को स्थान दिलाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया। अनेक सम्भ्रान्त हिन्दू, मुसलमान तथा पारसी सदस्यों के हस्ताक्षरों से यूनिवर्सिटी में इस आशय का प्रस्ताव भेजा और बड़े परिश्रम एवं प्रयत्न द्वारा उसे सिंडीकेट से स्वीकृत कराया। इस प्रकार बी० ए०, एम० ए० की परीक्षाओं में मराठी तथा गुजराती को वैकल्पिक विषय बना दिया गया।

समाज-सुधार के लिए तो रानडे का अन्तरात्मा बाल्य-काल ही से व्याकुल था। बचपन ही से सामाजिक कुरीतियाँ उनकी आँखों में चुभा करती थीं और उसी समय से वे उनके दूर करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न भी करते थे। रानडे ने बहुविवाह का विरोध बड़े ज़ोर से किया था। ज्यों-ज्यों उनकी शक्ति बढ़ती गई त्यों-त्यों वे रूढ़ियों को नष्ट

कर समाज-संशोधन के कार्य में अग्रसर होते गए। उस समय जिन सुधारों का नाम लेना भी पाप समझा जाता था, रानडे के समझाने-बुझाने से लोग इन्हीं की ओर बढ़ने लगे। धीरे-धीरे कुरीतियों का मूलोच्छेदन प्रारम्भ हुआ। रानडे का शास्त्रों पर अटल विश्वास था, वे शास्त्र-विरुद्ध कुछ भी न करना चाहते थे। उन्होंने समाज-सुधार की नींव डाली, पर शास्त्र-सीमा के भीतर। आपने विधवा-विवाह समर्थक और बाल तथा वृद्ध-विवाह विरोधी अनेक शास्त्रीय प्रमाण एकत्र किए और उन्हीं की सहायता से उपर्युक्त कुरीतियों को मिटाने के लिए प्रबल प्रयत्न भी किया।

रानडे के हृदय में स्वदेशानुराग की मात्रा कम न थी। वह काँग्रेस में भी बराबर भाग लिया करते थे। वास्तव में रानडे सच्चे सुधारक थे, उनका हृदय धर्म और देश-प्रेम के परमाणुओं से बना था। रानडे का सुधार-कार्य सब दिशाओं में अव्याहत गति से होता था। पूना में तो आपने समाज-सुधार सम्बन्धी इतनी सभा-सोसाइटियाँ खोल दीं, कि वह सार्वजनिक कार्यों का केन्द्र-सा बन गया। सभा-समाजों के सिवा रानडे ने पूना में एक म्यूज़ियम भी खुलवाया, जो आज भी उनका शत मुख से यशोगान कर रहा है। यथार्थ में मानव-समाज पर रानडे का इतना भारी ऋण है कि उससे उसका उऋण होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

१८८५ ई० में जब राष्ट्रिय महासभा की स्थापना हुई तो रानडे का उसमें पूरा हाथ था। अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि रानडे ने साहित्यिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में ही सुधार नहीं किया, प्रत्युत राजनैतिक कार्यों में भी उन्होंने अच्छा भाग लिया। निःसन्देह यह एक आश्चर्य

की बात है कि सरकारी नौकर होते हुए भी रानडे राजनैतिक कार्यों में सहयोग दे सके। बात यह भी है कि उन दिनों काँग्रेस का कार्य इस रूप में न था, जैसा कि आज है। अतः सरकार का दृष्टि-कोण भी काँग्रेस के कार्यकर्त्ताओं की ओर विशेष कठोर न था। पीछे ज्यों-ज्यों स्वराज्यान्दोलन का कार्य बढ़ता गया, सरकार भी उसे सशंक और सन्दिग्ध दृष्टि से देखने लगी। सरकारी नौकरों को उसमें भाग लेने से रोका जाने लगा। फिर भी रानडे प्रतिवर्ष काँग्रेस में भाग लेते थे। इससे उनकी निर्भीकता और स्वदेश-भक्ति का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है।

रानडे के जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं में भी उनके हृदय की विशालता, उदारता और मातृ-पितृ-भक्ति आदि के उज्ज्वल भाव दिखाई पड़ते हैं। एक दिन की बात है, रानडे ने एक मकान मोल लिया। उनके पिता ने कहा कि इसकी लिखा-पढ़ी तुम अपने ही नाम से करा लो; परन्तु पिता के होते हुए उन्होंने किसी कार्य में अपनी प्रधानता रखना सर्वथा अनुचित समझा और आग्रह पूर्वक वह मकान पिता के नाम ही से ख़रीदा। इससे भी बढ़कर उनकी पितृ-भक्ति का एक और भी उदाहरण है। जिस समय इनकी पहली पत्नी सखूबाई का स्वर्गवास हुआ, उस समय रानडे की आयु ३० साल के लगभग थी। फिर भी उन्होंने निश्चय किया कि मुझे अब विवाह नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे वृद्ध-विवाह की कुप्रथा को समूल उखाड़ फेंकना चाहते थे। ऐसी दशा में स्वयं विवाह कैसे करते। परन्तु जब इनके माता-पिता ने विवाह के लिए अत्यधिक आग्रह किया, तो वे उनकी आज्ञा टाल भी न सके।

इस प्रकार माता-पिता की आज्ञा और इच्छा के आगे रानडे ने अपने सिद्धान्त तक का ख़ून कर डाला।

रानडे बड़े सरल स्वभाव और निरभिमान थे। वे जज हो कर अपने को शासक नहीं, वरन् प्रजा का एक तुच्छ सेवक समझते थे। सर्व साधारण से वे उसी भाँति मिलते-जुलते थे, जिस प्रकार एक सभ्य नागरिक अपने बराबर वालों से मिलता है। उनका गार्हस्थ्य जीवन बड़ी ही सादगी का जीवन था। वाह्याडम्बर से उनको हार्दिक घृणा थी। प्राचीन देशी वेश-भूषा का रानडे बड़ा आदर करते थे। केवल सरकारी कार्य पर जाते समय ही वे उस पद और कार्य के अनुरूप वस्त्रों का उपयोग करते तथा शेष समय में सदैव साधारण कपड़े ही पहनते थे। पाश्चात्य सभ्यता के पीछे आँख मूँद कर दौड़ना और अपनी पूर्वीय संस्कृति का तिरस्कार करना रानडे बहुत बुरा समझते थे। वह मनुष्यमात्र के हितमें अपना हित और प्राणिमात्र के सुख में अपना सुख मानते थे।

एक दिन की बात है, रानडे कचहरी से लौटकर आरहे थे। मार्ग में एक बुढ़िया लकड़ियों का गट्ठा रक्खे बैठी थी। वह उस गट्ठे को उठाना चाहती थी पर गट्ठा इतना भारी था कि बेचारी के उठाए न उठता था। रानडे को उधर से जाते देख बुढ़िया बोली—"बेटा! तनक मेरे बोझ को हाथ लगाते जाना।" बुढ़िया की बात सुन रानडे ने तुरन्त लकड़ियों का गट्ठा उठा कर उसके सिर पर रखवा दिया। सचमुच एक जज के हृदय में इससे अधिक सरलता, सादगी और दुखियों के प्रति वास्तविक सहानुभूति और क्या हो सकती है। दूसरा कोई व्यक्ति होता तो उस असहाय बुढ़िया की ओर आँखें उठाकर भी न देखता। लकड़ियों का गट्ठा उठवाना तो दूर की

बात थी। रानडे का हृदय दुखियों के दुःख देखते ही द्रवित हो जाता था। वे लोगों के कष्टों को उन्हीं की स्थिति में होकर अनुभव करते थे, इसीलिए उन पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ता था।

रानडे देश-हित सम्बन्धी कार्यों से मौखिक सहानुभूति ही न रखते थे, प्रत्युत उनके लिए मुक्तहस्त होकर दान भी देते थे। आपने अपने जीवन में सहस्रों रुपया सार्वजनिक कार्यों के लिए दिया। इस असार संसार से विदा होते समय भी आप चालीस हज़ार रुपये विविध सार्वजनिक संस्थाओं को दे गए। अपने प्रचुर परिश्रम द्वारा उपार्जित धन का रानडे ने ऐसे ही शुभ कार्यों में सदुपयोग किया। रानडे से आर्थिक सहायता प्राप्त कर अनेक सभा-संस्थाएँ चिरस्थायिनी होगईं।

रानडे अपनी प्रशंसा से बहुत दूर रहते थे। उन्हें अपनी तारीफ़ सुन कर बड़ी ग्लानि होती थी। वे आगे-पीछे कभी अपना यशोगान पसन्द न करते थे। जिस समय रानडे बम्बई हाईकोर्ट के जज नियुक्त हुए, उस समय पूना निवासियों ने अत्यन्त हर्ष प्रकट किया। स्थान-स्थान पर सभाएँ करके उनको बधाइयाँ दी गईं। दूसरे दिन रानडे पूना से बम्बई के लिए प्रस्थान करने वाले थे। लोगों ने उनको बड़े समारोह-पूर्वक विदा करने का आयोजन किया। परन्तु रानडे को नगर निवासियों का यह कार्य पसन्द न आया। उनकी हार्दिक इच्छा थी, कि उनका इस प्रकार सम्मान न किया जाता। सम्भवतः इसीलिए आप अपने प्रस्थान के नियत समय से पूर्व ही रात में बम्बई चले गए।

रानडे का अपने मन तथा इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार था। वे जिस समय एकाग्र चित्त हो, किसी विषय पर विचार

करते, तो उसमें इतने तल्लीन हो जाते थे कि, बाहरी विघ्न उनके ध्यान में बिल्कुल बाधा न डाल सकते थे। रानडे के समीप बच्चे कोलाहल किया करते, परन्तु इससे उनके काम में कोई रुकावट न होती थी। वे देश के लिए जो कार्य करते वह निःस्वार्थ भाव से और केवल दूसरों की भलाई की भावना से प्रेरित होकर करते थे। इन्होंने अपने जीवन में ऐसा कोई काम नहीं किया, जिसकी ओर उँगली उठाई जा सके।

मनुष्य चाहता कुछ है और होता कुछ है। वह इच्छा और विचार करने में स्वतन्त्र है, परन्तु उन विचारों को पूरा करना उसकी शक्ति से सर्वथा बाहर है। रानडे की उत्कट अभिलाषा थी कि, नौकरी से पेंशन लेकर शेष जीवन देश-हित-साधन में लगाया जाय, परन्तु काल की कुटिल चाल ने उनके इस मनोरथ को पूरा न होने दिया। उनकी लालसाएँ मन ही में रह गईं! विधाता ने सब मनोरथों पर पानी फेर दिया!!

रानडे अब प्रायः रुग्ण रहने लगे थे। उदर-वेदना की विकट व्याधि उनको लग गई थी, जिसके कारण उनका स्वास्थ्य दिनों दिन क्षीण होता जाता था। अब वह ईश्वराराधन के सिवा और कुछ न कर सकते थे। फिर भी लोक-सेवा का कोई काम सामने आता, तो वह उसे करने के लिए तुरन्त तैयार हो जाते। लाहौर काँग्रेस में पढ़ने के लिए "वशिष्ठ और विश्वामित्र" शीर्षक लम्बा लेख आपने रोग-शैया पर पड़े-पड़े ही तैयार किया था। यदि स्वास्थ्य थोड़ा भी साथ देता, तो वह इस निबन्ध को काँग्रेस में जाकर अवश्य पढ़ते, पर काँग्रेस के समय तबियत और अधिक ख़राब हो गई और डाक्टरों ने आपको यात्रा करने से रोक दिया।

फलतः रानडे को लाहौर जाना स्थगित करना पड़ा और वह लेख काँग्रेस में न पढ़ा जा सका। जब रानडे का स्वास्थ्य अधिक बिगड़ने लगा, तो वह बम्बई छोड़कर पूना चले आए। यहाँ वे पारिवारिकों को वेदना पहुँचने की आशंका से अपना कष्ट किसी से कहते तक न थे।

१६ जनवरी १९०१ के प्रातःकाल की बात है। रानडे अपने नित्य नियमानुसार प्रातः वायु-सेवन के लिए गए। वहाँ से लौटकर कई मित्रों से वार्त्तालाप किया और लगभग १० बजे भोजन करके लेट गए। लेटने के साथ ही उनके पेट में दर्द उठा। उपचार किए गए, पर शूल उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और अन्त में रानडे के प्राण लेकर ही शान्त हुआ। लगभग साढ़े दस बजे महादेव गोविन्द रानडे की पवित्र आत्मा इस पाञ्चभौतिक कलेवर को छोड़ स्वर्गधाम सिधार गई। मृत्यु-संवाद विद्युद्वेग से देशभर में फैल गया, जिसे सुन कर लोगों को घोर दुःख हुआ। इस प्रकार भारत का एक उज्ज्वल रत्न काल लुटेरे ने लूट लिया। रानडे की मृत्यु पर देश-भर में शोक मनाया गया। दूर-दूर से उनके पारिवारिकों के पास सम-वेदना सूचक पत्र और तार आए। बम्बई के गवर्नर लार्ड नार्थकोट, महाराजा होल्कर, महाराजा गायकवाड़ और महाराजा कोल्हापुर आदि बड़े-बड़े आदमियों ने भी रानडे की मृत्यु पर शोक प्रकाशित किया। बम्बई में होने वाली विशाल शोक-सभा के सभापति वहाँ के तत्कालीन गवर्नर महोदय थे। लोगों ने अश्रु-धाराएँ बहाईं, सिर धुने, सब कुछ किया परन्तु व्यर्थ! वह सहृदयता की मञ्जुल मूर्ति, उदारता का विशाल स्रोत, राजनीति, समाज, धर्म और साहित्य का सच्चा प्रेमी रानडे सबको रोता-बिलखता छोड़, सदा-सर्वदा के लिए

संसार से विदा हो गया ! बम्बई निवासियों ने रानडे के स्मारक स्वरूप उनकी प्रस्तर-प्रतिमा स्थापित की है, परन्तु उनका सच्चा स्मारक "रानडे इन्स्टीट्यूट" ही है । यह इन्स्टीट्यूट अपने एक लाख के स्थायी कोष में से अनेक होनहार विद्यार्थियों को सहायता देकर प्रतिवर्ष विज्ञान, उद्योग तथा ऐसे ही अन्य उपयोगी विषयों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए विदेश भेजता रहता है । रानडे के कोई पुत्र न था, अतः उनके प्रधान शिष्य स्वर्गीय श्री गोपल कृष्ण गोखले को रानडे द्वारा संस्थापित सार्वजनिक संस्थाओं का सारा सञ्चालन-भार सौंपा गया । गोखले बड़े गौरव के साथ अपने को रानडे का शिष्य बताया करते थे ।
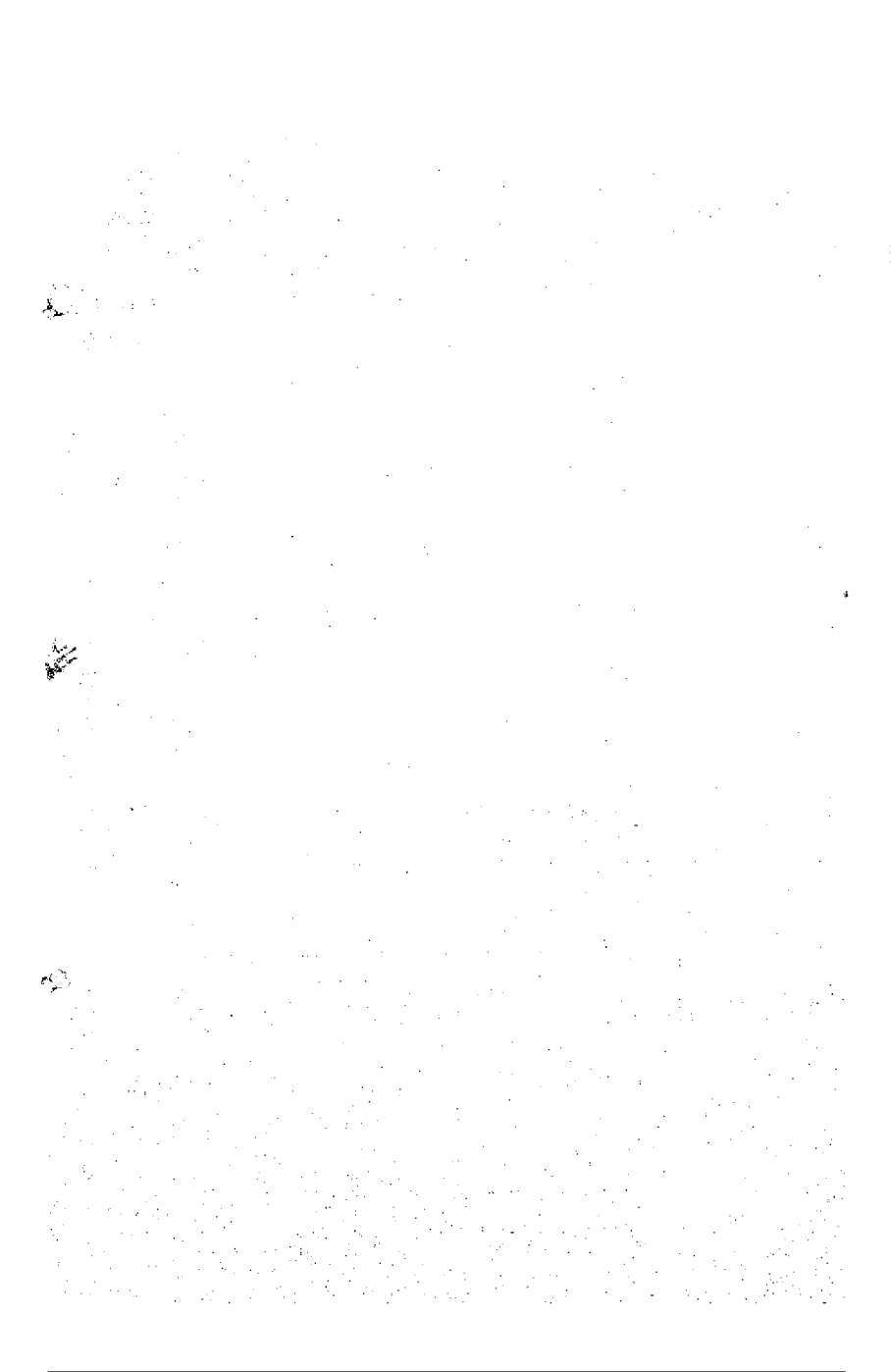
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

बंगाल के इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्दजी को कौन नहीं जानता। अपने समय के यह धनकुबेर मुग़ल-शासन-काल में हुए हैं। इन्हीं के वंश में वर्त्तमान खड़ी बोली के जन्म-दाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी का जन्म हुआ। हरिश्चन्द्रजी अमीचन्द से छठी पीढ़ी में थे। कहते हैं, अमीचन्दजी के पुत्र शाह फ़तहचन्दजी, किन्हीं कारणों से बंगाल छोड़ काशी आ बसे थे, तब से इनके वंशधर यहीं के निवासी बन गए। फ़तहचन्दजी के प्रपौत्र (हरिश्चन्द्रजी के पिता) गोपाल-चन्द्रजी भी सुप्रसिद्ध कवि थे। ये अपनी कविताओं में अपना उपनाम गिरिधरदास लिखा करते थे। इन्होंने चालीस के लगभग काव्य-ग्रन्थ लिखे हैं। इन्हीं गोपालचन्द्रजी की धर्म-पत्नी के गर्भ से सन् १८५० की नवीं सितम्बर को, काशी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ। भारतेन्दुजी के, मुकुन्दी बीबी, गोविन्दी बीबी और गोकुलचन्द्र नामक तीन भाई-बहिन और थे, जिनमें केवल मुकुन्दी बीबी हरिश्चन्द्रजी से बड़ी थीं।

कहावत है, "मोर चित्ते हुए ही उत्पन्न होते हैं," हमारे भारतेन्दुजी भी जन्म-सिद्ध कवि थे। हरिश्चन्द्रजी की कवित्व शक्ति का चमत्कार चार-पाँच साल की अल्पायु ही में दिखाई देने लगा था। उस समय पढ़ना-लिखना तो क्या, ये अच्छी तरह शुद्ध उच्चारण भी न कर सकते थे। एक दिन की बात है, कविवर गोपालचन्द्रजी 'बलराम-कथामृत' नामक पुस्तक

लिख रहे थे। बाणासुर और बलरामजी के युद्ध का प्रसंग चल रहा था। उसी समय भारतेन्दुजी भी खेलते-खेलते पिता के पास आ पहुँचे। बालक हरिश्चन्द्र गोपालचन्द्रजी से कहने लगे—"पिताजी, आप कविता करते हैं, अच्छा, हम भी कविता बनावेंगे।" बालक की बात सुन तथा उसे निरा बाल-विलास समझ गोपालचन्द्रजी मुस्कराते हुए बोले—'हाँ, क्यों नहीं बनाओगे, अवश्य बनाओ।" इस बातचीत के कुछ ही समय पश्चात् हरिचन्द्रजी ने निम्नलिखित दोहा बनाकर पिताजी को सुनाया—

लै ब्योंड़ा ठाढ़े भए, श्री अनिरुद्ध सुजान।
बानासुर की सैन्य को, हनन लगे बलवान॥

अल्प वयस्क बालक की इतनी सुन्दर रचना, उसी की तुतलाती हुई वाणी से सुन, गोपालचन्द्रजी की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। उनके प्रेम-पारावार का बाँध टूट गया और नेत्रों से वात्सल्य रस की धारा बहने लगी। उन्होंने लपक कर पुत्र को गोद में उठा हृदय से लगा लिया और बार-बार उसका मुख चूमते हुए बोले—"बेटा, तुम अवश्य ही एक दिन कुल-कीर्ति का विस्तार करोगे।"

हरिश्चन्द्र बचपन ही से बड़े चतुर और चञ्चल थे। इनकी साधारण बात-चीत तथा मामूली खेल-कूद में भी बुद्धि-मत्ता और विचार-शीलता का स्पष्ट आभास दिखाई देता था। भारतेन्दुजी की बुद्धि कितनी प्रखर थी, इसका परिचय इनके जीवन की एक असाधारण घटना से भले प्रकार प्राप्त होता है। गोपालचन्द्रजी के यहाँ सन्ध्या समय नित्य मित्र-मण्डली एकत्र हुआ करती थी, जिसमें वे अपनी रचना सुनाया करते थे। उसी पद्य-पाठ-प्रसंग में कभी किसी कविता की आलोचना

भी होने लगती और देर तक वाद-विवाद जारी रहता था। एक दिन की बात है, गोपालचन्द्रजी इस साहित्य-गोष्ठी में बैठे अपना नव-निर्मित "कच्छप-कथामृत" काव्य सुना रहे थे। अभी उन्होंने मंगलाचरण ही पढ़ा था, कि उसमें आए हुए, "करन चहत जस चारु, कछु कछुवा भगवान को" पद की व्याख्या प्रारम्भ हो गई। सब लोग अपनी-अपनी समझ के अनुसार उक्त पद का अर्थ लगाने लगे। एक सज्जन बोले— "उस भगवान् का कुछ-कुछ (कछु-कछु वा भगवान को) यश वर्णन करना चाहते हैं।" दूसरे सज्जन कहने लगे—"नहीं, कच्छप अवतार धारण करने वाले (कछु कछुवा भगवान को) भगवान का कुछ यशोगान करना चाहते हैं, ऐसा अर्थ है।" इसी समय छै वर्ष के बालक हरिश्चन्द्र भी वहीं बैठे सब लोगों की व्याख्या को ध्यान पूर्वक सुन रहे थे, वह बोल उठे—"नहीं पिताजी, आप उस भगवान् का गुण-गान करना चाहते हैं, जिसे आपने कुछ छुआ (कछुक छुवा) है—अर्थात् जिसके सम्बन्ध में आप कुछ-कुछ जान गए हैं।" छोटे से बालक का यह चमत्कार-पूर्ण अर्थ सुन कर उपस्थित मण्डली मुग्ध हो गई। सबके मुँह से 'वाह-वाह' की ध्वनि निकल पड़ी। गोपालचन्द्रजी की प्रसन्नता का तो ठिकाना ही न रहा। उन्होंने पुत्र को गोद में उठा लिया और बार-बार उसका मुँह चूमने लगे। इस समय उनके नेत्रों में प्रेमाश्रु छलक रहे थे। पुत्र की असाधारण सूक्ष्म तथा अनुपम कल्पना शक्ति के कारण, गोपालचन्द्रजी ने अपने भाग्य की भूरि-भूरि सराहना की और पुत्र को हृदय से आशीर्वाद दिया—"पुत्र, तुम अपने साथ-साथ निस्सन्देह अपने पुरुषाओं के नाम को भी अमर बनाओगे।"

हरिश्चन्द्र के भाग्य में अधिक दिनों तक पितृ-सुख भोगना न लिखा था। ये दस ही वर्ष के थे, कि इनके सिर से पिता जी की छत्र-छाया उठ गई। गोपालचन्द्र जी के सामने हरिश्चन्द्रजी के पठन-पाठन की व्यवस्था नहीं के बराबर ही हुई थी। इनके जी में आता, तो कभी थोड़ी देर पढ़-लिख लेते, नहीं तो दिन-भर यों ही ऊधम मचाया करते थे। हरिश्चन्द्रजी स्वच्छन्द प्रकृति के तो थे; परन्तु उनमें उद्दण्डता या अशिष्टता का नितान्त अभाव था। उनकी स्वातन्त्र्य-प्रियता या चञ्चलता उसी ढंग की थी, जैसी होनहार बालकों में प्रायः हुआ करती है। पिता का स्वर्गवास हो जाने पर भारतेन्दु की माता को इनके पढ़ाने-लिखाने की चिन्ता हुई। उन्होंने इनको पढ़ाने के लिए एक पण्डित नियुक्त किया। जिससे थोड़े ही दिनों में हरिश्चन्द्रजी ने हिन्दी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। इसके अनन्तर उर्दू, फ़ारसी तथा अँगरेज़ी पढ़ाने के लिए भी एक मौलवी और एक मास्टर की नियुक्ति हुई। हरिश्चन्द्रजी ने अल्पकाल ही में फ़ारसी तथा अँगरेज़ी में भी अच्छी योग्यता करली थी। उस समय काशी में सितारेहिन्द राजा शिवप्रसाद अँगरेज़ी के श्रेष्ठतम ज्ञाता समझे जाते थे। राजा साहब ने अपने मकान पर एक स्कूल भी खोल रक्खा था। भारतेन्दुजी राजा साहब के स्कूल में भी पढ़ने जाया करते थे। कुछ काल तक वह क्वींस कालेज के भी विद्यार्थी रहे। हरिश्चन्द्र पढ़ने-लिखने में कभी मन न लगाते थे, फिर भी वे कभी किसी परीक्षा में अनुत्तीर्ण नहीं हुए। घर, स्कूल, कालेज कहीं भी किसी समय इनको परिश्रम पूर्वक पढ़ते नहीं देखा गया, परन्तु फिर भी न जाने उन्हें अपना पाठ कैसे याद हो जाता था। हरिश्चन्द्रजी के पठन-पाठन

का समुचित क्रम केवल चार-पाँच वर्ष ही चला और इसी बीच में उन्होंने हिन्दी, उर्दू तथा अँगरेज़ी में अच्छी जानकारी करली। इसके सिवा, बँगला, मराठी, गुजराती मारवाड़ी आदि और कितनी ही भाषाएँ भी आपने सीख लीं।

१९२१ वि० में हरिश्चन्द्रजी अपनी माता तथा अन्य कुटुम्बियों सहित तीर्थ-यात्रा के लिए गए। जिसके कारण इनका पढ़ना-लिखना बिलकुल बन्द हो गया। तीर्थ-यात्रा से लौट कर हरिश्चन्द्रजी का जीवन ही बदल गया। इन्हीं दिनों इनका विवाह हो गया और उसके कुछ ही दिनों बाद इनकी माता भी स्वर्ग सिधार गईं। माता के मरने पर तो भारतेन्दुजी पूरे स्वतन्त्र हो गए। लाखों की सम्पत्ति के एकमात्र अधिकारी बन, उसे उदारता-पूर्वक खर्च करने लगे। इस समय हरिश्चन्द्रजी के पास अनर्थ के चार साधनों में से यौवन, धन और प्रभुत्व तीन साधन मौजूद थे, परन्तु उन्होंने अपने जीवन में ऐसा कोई काम नहीं किया, जिसके कारण कोई उनकी ओर उँगली उठाता। वे धन का व्यय तो खूब करते थे, परन्तु अपव्यय नहीं। उनका पैसा सदैव शुभ कामों में ही खर्च होता था।

माता की मृत्यु के पश्चात् भारतेन्दु ने पढ़ना-लिखना आदि सब कुछ छोड़ दिया था, अब उनके लिए विद्या-प्रचार और काव्य-रचना केवल दो काम शेष रह गए थे। विद्या-प्रचार के लिए भारतेन्दुजी ने "चौखम्भा स्कूल" नाम से एक विद्यालय खोला, जिसमें निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। असहाय और परिश्रमी विद्यार्थियों की भोजन-वस्त्र और पुस्तकादि से भी सहायता की जाती थी। बारह साल तक इस विद्यालय को हरिश्चन्द्रजी केवल अपने ही व्यय से चलाते रहे। पीछे

चुँगी और सरकार की ओर से भी कुछ मदद मिलने लगी। धीरे-धीरे वह विद्यालय हाईस्कूल बन गया, जो कि अब "हरिश्चन्द्र हाईस्कूल" के नाम से प्रसिद्ध है।

भारतेन्दुजी केवल ३५ वर्ष संसार में रहे, जिसमें चौदह-पन्द्रह साल की अवस्था तक तो इनका समय पढ़ने-लिखने में बीता। इसके पश्चात् लगभग बीस वर्ष हरिश्चन्द्रजी ने संसार-क्षेत्र में काम किया। इनकी संसार-यात्रा के बीस वर्ष हिन्दी की उन्नति, समाज-सुधार, विद्या-प्रचार तथा तीर्थ-यात्रा में ही व्यतीत हुए। भारतेन्दु ने अपनी पैतृक सम्पत्ति का लाखों रुपया हिन्दी की उन्नति और उसके प्रचार में पानी की तरह बहाया। वह स्वयं तो महाकवि थे ही, साथ ही सुकवियों का सम्मान करना भी खूब जानते थे। पुरस्कार प्रदान द्वारा प्रोत्साहित कर-करके हरिश्चन्द्रजी ने कितने ही कवि बना दिए। आप एक-एक दोहे पर सौ-सौ रुपये पारितोषिक दे डालते थे। कविता और कवियों के सम्मान का ऐसा उदार उदाहरण आजकल बहुत कम देखने में आता है।

हरिश्चन्द्र में सभी गुण अलौकिक थे। छोटी-सी आयु में ही आप संसार की नश्वरता और माया के प्रबल पाश को भली भाँति जान गए थे। दान, भोग और नाश धन की यह तीन ही गति होती हैं, इस पर भारतेन्दुजी का दृढ़ विश्वास था। कहते हैं, भारतेन्दुजी को मुक्तहस्त हो धन लुटाते देख, एक बार श्रीमान् काशी-नरेश ने कहा था—"बबुआ, अपना घर देख-भाल कर ख़र्च किया करो।" इस पर भारतेन्दुजी ने जो उत्तर दिया, वह उनके आध्यात्मिक ज्ञान की उत्कृष्टता का पूर्ण द्योतक है। भारतेन्दुजी ने काशी नरेश से कहा—"महाराज, यह माया मेरे पूर्व पुरुषाओं को खागई, अब मैं इस चुड़ैल को

खाकर छोड़ूँगा।" आख़िर हरिश्चन्द्रजी ने अपना कथन सत्य कर दिखाया। अपने हिस्से की समस्त पैतृक सम्पत्ति उन्होंने थोड़े ही दिनों में ख़र्च कर डाली और अन्त में इन पर कुछ कर्ज़ भी होगया।

हरिश्चन्द्रजी का नियम था, कि अगर इनकी कोई वस्तु किसी को पसन्द आजाती, तो वह उसे तुरन्त दे डालते थे। चाहे वह चीज़ कितने ही मूल्य की क्यों न होती। भारतेन्दुजी को ललित कला से बड़ा प्रेम था। वह बड़े ठाटबाट से रहते थे। घर में सभी प्रकार के ऐश-ओ-आराम के सामान रखते थे। हरिश्चन्द्रजी ने प्राचीन राजा-महाराजाओं के बड़े अलभ्य और अमूल्य चित्रों का संग्रह किया था। एक सज्जन आए और उन चित्रों की बड़ी प्रशंसा करने लगे। भारतेन्दु जी ने अपने स्वभावानुसार मित्र महाशय से कहा—"यदि ये चित्र आपको पसन्द हैं, तो आप इन्हें ले जाइये।" वह तो चाहते ही थे, तुरन्त चित्रों को ले अपने घर चलते बने। हरिश्चन्द्रजी ने बीस साल के भीतर, तीन-चार लाख रुपया दान तथा भोग में व्यय कर दिया, हजारों की रक़में एक-एक साथ दे डालीं और कभी किसी का ख़याल नहीं किया। परन्तु वे चित्र उन्हें इतने प्रिय थे, कि पीछे वह उनकी याद कर बहुत पछताए। कहते हैं, भारतेन्दुजी ने मित्र महाशय के पास ख़बर भेजी, कि उन चित्रों को आप पाँच सौ रुपए लेकर मेरे हाथ बेच दीजिए, परन्तु वह हज़रत किसी तरह चित्र देने को राज़ी न हुए। लोगों ने हरिश्चन्द्रजी को केवल इसी काम के लिए पश्चात्ताप करते देखा।

१९२७ वि० में हरिश्चन्द्रजी आनरेरी मजिस्ट्रेट बनाये गए। इस समय इनकी अवस्था बीस वर्ष के लगभग थी। कुछ

दिनों तक आपने बड़ी न्याय-निष्ठा से मजिस्ट्रेटी की, परन्तु अन्त में अपने निश्चित कार्य-कर्म में बाधा पड़ने के कारण उसे छोड़ दिया।

भारतेन्दुजी उदार, देश-भक्त तथा सुधारक होने के साथ-साथ सहृदय और हँसमुख भी बड़े थे। इनके बात-चीत करने का ढंग इतना अच्छा था, कि लोग सुनते-सुनते अघाते न थे। इनके पास बैठ कर उठने को जी न चाहता था। हरिश्चन्द्रजी को गाने-बजाने और खेल-तमाशों का भी बड़ा शौक़ था। कहते हैं, वे होली के दिनों में स्वयं एक स्वाँग बनाकर गलियों में कबीर गाते हुए निकला करते थे। भारतेन्दुजी विनोद-प्रिय भी एक नम्बर के थे। इसके लिए वे झूठ बोलने या झूठ लिखने में पाप नहीं समझते थे। होली या 'एप्रिल-फ़ूल' के समय आप प्रायः कुछ न कुछ मज़ाक किया करते थे। एक बार आपने विज्ञापन बटवाया, कि अमुक दिन एक मेम साहिबा खड़ाऊँ पहन कर, स्थल के समान पानी पर चलती हुई गंगाजी पार करेंगीं। विज्ञापन पढ़कर सहस्रों लोग गंगातट पर एकत्र हो गए। पीछे जब भेद खुला तो लोग बड़े ही लज्जित हुए। इसी प्रकार आपने एक बार और भी सूचना निकाली, कि यूरोप के एक प्रसिद्ध विद्वान् अमुक समय सूर्य और चन्द्रमा को विजयानगरम् की कोठी में भूमि पर उतारेंगे। इस बार भी हजारों आदमी विजयानगरम् की कोठी में एकत्र हुए और पीछे लज्जित हो वापस आए। एक अवसर पर भारतेन्दुजी ने प्रकाशित किया कि अमुक तारीख़ को हरिश्चन्द्र-स्कूल में, भारत के एक सुप्रसिद्ध गायक अपना सुन्दर गान सुनावेंगे। नियत समय पर सैकड़ों स्त्री-पुरुष हरिश्चन्द्र-स्कूल में एकत्र हो गए, परन्तु

जब उनके सामने एक आदमी विदूषकों के-से कपड़े पहने, उल्टा सितार कन्धे पर रक्खे, बुरी तरह रेंकता हुआ निकला, तो लोग बड़े हँसे और शरमाकर अपने घरों को चले गए।

हरिश्चन्द्रजी खाने-पहनने तथा भोग-विलास के कामों में ख़ूब रुपया ख़र्च करते थे। इनका मकान अनेक बहुमूल्य वस्तुओं से सुसज्जित रहता था। वे नित्य-प्रति स्नान करते समय तैल की जगह बहुमूल्य इत्रों का उपयोग करते थे। दिवाली के दिन तो आप दीपकों तक में इत्र ही जलाते थे। हरिश्चन्द्रजी ने रुपये-पैसे को कभी कुछ नहीं समझा। सुना जाता है, भारतेन्दुजी की ननसाल में भी इनकी नानी के सिवा कोई न था, अतएव वहाँ की चार-पाँच लाख की सम्पत्ति के भी ये दोनों भाई ही अधिकारी थे, परन्तु जब इनकी नानी ने देखा, कि हरिश्चन्द्र तो खाऊ-उड़ाऊ है, इसलिए उसने अपनी कुल जायदाद भारतेन्दुजी के छोटे भाई गोकुलचन्द्रजी के नाम कर दी। उस समय हरिश्चन्द्रजी चाहते, तो इस सम्पत्ति में से आधा हिस्सा ले सकते थे, परन्तु उन्होंने दो-ढाई लाख रुपए की कुछ भी परवा न की, और अपनी नानी के कहने से तुरन्त हिबेनामे पर हस्ताक्षर कर दिए। भला ऐसी उदारता भारतेन्दुजी के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ मिल सकती है।

हरिश्चन्द्रजी ने अपनी २२-२३ साल की आयु में 'कवि-वचन-सुधा' नामक एक मासिक पत्रिका निकाली। पीछे उक्त पत्रिका पाक्षिक और फिर साप्ताहिक भी कर दी गई। इस पत्रिका द्वारा आपने हिन्दी और कविता-प्रचार के साथ-साथ समाज-सुधार का भी बहुत काम किया। इसके पश्चात् आपने 'कविता-वर्द्धिनी सभा' की स्थापना की। इस सभा में

तत्कालीन दीनदयालु गिरि, नारायण, द्विजलाल आदि प्रसिद्ध कवि सम्मिलित होते थे। भारतेन्दुजी प्रशंसा-पत्र और पारितोषिक दे-देकर लेखकों और कवियों को प्रोत्साहित किया करते थे।

भारतेन्दुजी ने 'हरिश्चन्द्र-मेगज़ीन' 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका', 'नवोदिता', 'बालाबोधिनी', 'भगवद्भक्ति' आदि अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं, जिनसे जनता का महान् उपकार हुआ। आपने अनेक सभाएँ भी खोलीं, जिनमें 'तदीय समाज' 'पेनीरीडिङ्ग क्लब', 'वैश्य-हितैषिणी सभा' आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। तदीय समाज में जो लोग सम्मिलित होते, उनसे हिंसा न करने, स्वदेशी वस्तु व्यवहार में लाने आदि की प्रतिज्ञाएँ कराई जाती थीं। पेनीरीडिङ्ग क्लब में सुलेखकों के लेख और कवियों के काव्य पढ़कर सुनाए जाते थे। कभी-कभी कोई मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद अभिनय भी इसमें होता था, जिसमें स्वयं भारतेन्दुजी भी भाग लेते थे। आपने कुछ धार्मिक परीक्षाएँ भी नियत की थीं, जिनमें उत्तीर्ण हुए व्यक्तियों को पारितोषिक दिये जाते थे।

हरिश्चन्द्रजी ने अपने जीवन में अनेक वार तीर्थ-यात्राएँ कीं, इससे इनकी धार्मिक दृढ़ता का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। आपने सुधार सम्बन्धी अनेक कामों के साथ, गोरक्षा के लिए भी पूर्ण उद्योग किया था। दिल्ली-दरबार के समय आपने एक लाख लोगों के हस्ताक्षर कराकर गो-रक्षा विषयक एक आवेदन पत्र सरकार की सेवा में भेजा था। हरिश्चन्द्रजी के औदार्य, स्वार्थ-त्याग, सहृदयता, विद्या-प्रेम, कला-प्रियता, आदि सद्गुणों, तथा उनके अनेक लोकोपयोगी कार्यों के कारण पं० रमाशंकर व्यास ने 'सार सुधानिधि' पत्रिका द्वारा

किया, जिसे तत्कालीन सभी पत्र-पत्रिकाओं ने स्वीकार किया। उसी समय से सभी पत्रों और विद्वानों ने आपको 'भारतेन्दु' लिखना और कहना आरम्भ कर दिया। सामान्य सभा-सभाजों के अतिरिक्त, भारतेन्दुजी का राजा-महाराजाओं में भी बड़ा सम्मान था। आपको अनेक बार मेवाड़ आदि के राजाओं ने बुलाया और बड़े प्रेम से आपका स्वागत-सत्कार किया।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, काव्य-कला की ओर तो हरिश्चन्द्रजी की बचपन ही से प्रवृत्ति थी। चौदह साल की अवस्था के पश्चात् तो काव्य-रचना ही आपके जीवन का उद्देश्य बन गया था। अपने जीवन में आपने नाटक, आख्यायिका, उपन्यास, काव्य, स्तोत्र, परिहास, माहात्म्य, धर्म, इतिहास, यात्रा, ईश्वर-भक्ति, राज-भक्ति, भूगोल आदि विषयों पर लगभग पौने दोसौ छोटी-बड़ी पुस्तकें लिखीं। इनके अतिरिक्त लगभग पिचहत्तर ग्रन्थों का आपने संग्रह और सम्पादन किया। पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन अलग रहा। पन्द्रह-सोलह वर्ष के अल्प समय में इतने अधिक ग्रन्थों का लिखना साधारण काम नहीं है। फिर विशेषता यह कि आपकी लिखी सभी पुस्तकें साधारण नहीं, प्रत्युत एक से एक बढ़कर हैं। वर्त्तमान कालीन गद्य लेखन-शैली के जन्मदाता भारतेन्दुजी ही हैं। हरिश्चन्द्रजी से पहले हिन्दी में नाटकों का तो अभाव-सा ही था। हिन्दी-जगत् की यह न्यूनता आपने ही पूर्ण की। भारतेन्दुजी जितनी भाषाएँ जानते थे, सभी में वे कविता करने की क्षमता रखते थे। हिन्दी में कविता करने का तो आपको ऐसा अभ्यास था कि धारा-प्रवाह नवीन

तत्कालीन दीनदयालु गिरि, नारायण, द्विजलाल आदि प्रसिद्ध कवि सम्मिलित होते थे। भारतेन्दुजी प्रशंसा-पत्र और पारि-तोषिक दे-देकर लेखकों और कवियों को प्रोत्साहित किया करते थे।

भारतेन्दुजी ने 'हरिश्चन्द्र-मेगज़ीन' 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका', 'नवोदिता', 'बालाबोधिनी', 'भगवद्भक्ति' आदि अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं, जिनसे जनता का महान् उपकार हुआ। आपने अनेक सभाएँ भी खोलीं, जिनमें 'तदीय समाज' 'पेनीरीडिङ्ग क्लब', 'वैश्य-हितैषिणी सभा' आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। तदीय समाज में जो लोग सम्मिलित होते, उनसे हिंसा न करने, स्वदेशी वस्तु व्यवहार में लाने आदि की प्रतिज्ञाएँ कराई जाती थीं। पेनीरीडिङ्ग क्लब में सुलेखकों के लेख और कवियों के काव्य पढ़कर सुनाए जाते थे। कभी-कभी कोई मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद अभिनय भी इसमें होता था, जिसमें स्वयं भारतेन्दुजी भी भाग लेते थे। आपने कुछ धार्मिक परीक्षाएँ भी नियत की थीं, जिनमें उत्तीर्ण हुए व्यक्तियों को पारितोषिक दिये जाते थे।

हरिश्चन्द्रजी ने अपने जीवन में अनेक बार तीर्थ-यात्राएँ कीं, इससे इनकी धार्मिक दृढ़ता का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। आपने सुधार सम्बन्धी अनेक कामों के साथ, गोरक्षा के लिए भी पूर्ण उद्योग किया था। दिल्ली-दरबार के समय आपने एक लाख लोगों के हस्ताक्षर कराकर गो-रक्षा विषयक एक आवेदन पत्र सरकार की सेवा में भेजा था। हरिश्चन्द्रजी के औदार्य, स्वार्थ-त्याग, सहृदयता, विद्या-प्रेम, कला-प्रियता, आदि सद्गुणों, तथा उनके अनेक लोकोपयोगी कार्यों के कारण पं० रमाशंकर व्यास ने 'सार सुधानिधि' पत्रिका द्वारा

इनको 'भारतेन्दु' की उपाधि प्रदान करने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसे तत्कालीन सभी पत्र-पत्रिकाओं ने स्वीकार किया। उसी समय से सभी पत्रों और विद्वानों ने आपको 'भारतेन्दु' लिखना और कहना आरम्भ कर दिया। सामान्य सभा-समाजों के अतिरिक्त, भारतेन्दुजी का राजा-महाराजाओं में भी बड़ा सम्मान था। आपको अनेक बार मेवाड़ आदि के राजाओं ने बुलाया और बड़े प्रेम से आपका स्वागत-सत्कार किया।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, काव्य-कला की ओर तो हरिश्चन्द्रजी की बचपन ही से प्रवृत्ति थी। चौदह साल की अवस्था के पश्चात् तो काव्य-रचना ही आपके जीवन का उद्देश्य बन गया था। अपने जीवन में आपने नाटक, आख्यायिका, उपन्यास, काव्य, स्तोत्र, परिहास, माहात्म्य, धर्म, इतिहास, यात्रा, ईश्वर-भक्ति, राज-भक्ति, भूगोल आदि विषयों पर लगभग पौने दोसौ छोटी-बड़ी पुस्तकें लिखीं। इनके अतिरिक्त लगभग पिचहत्तर ग्रन्थों का आपने संग्रह और सम्पादन किया। पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन अलग रहा। पन्द्रह-सोलह वर्ष के अल्प समय में इतने अधिक ग्रन्थों का लिखना साधारण काम नहीं है। फिर विशेषता यह कि आपकी लिखी सभी पुस्तकें साधारण नहीं, प्रत्युत एक से एक बढ़कर हैं। वर्त्तमान कालीन गद्य लेखन-शैली के जन्मदाता भारतेन्दुजी ही हैं। हरिश्चन्द्रजी से पहले हिन्दी में नाटकों का तो अभाव-सा ही था। हिन्दी-जगत् की यह न्यूनता आपने ही पूर्ण की। भारतेन्दुजी जितनी भाषाएँ जानते थे, सभी में वे कविता करने की क्षमता रखते थे। हिन्दी में कविता करने का तो आपको ऐसा अभ्यास था कि धारा-प्रवाह नवीन

पद्य बना कर पढ़ते चले जाते थे। कहते हैं, आप सोते हुए भी छन्द-रचना कर लेते थे। आपके कई छन्द ऐसे बताए जाते हैं, जो आपने शयनावस्था में रचे थे।

भारतेन्दुजी द्वारा हिन्दी-साहित्य की जितनी उन्नति हुई, उतनी किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा नहीं हो सकी। पुस्तक-प्रणयन की तो आपको इतनी लगन थी, कि रुग्णावस्था में खाट पर पड़े-पड़े भी आप पुस्तक लिखा करते थे। अपने छोटे से जीवन में हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तान तीनों की असीम सेवा कर, यह महापुरुष अपना नाम अमर कर गये। १८८२ वि० में भारतेन्दुजी उदयपुर-नरेश महाराणा सज्जनसिंह से मिलने गए थे। वहाँ से लौटते ही आप अस्वस्थ होगए और लगातार कई वर्षों तक रोग-शैया पर पड़े रहे। उस समय भी आपका पढ़ना-लिखना बराबर जारी रहा। पुराना पड़ जाने के कारण आपका ज्वर क्षय के रूप में परिणत होगया। शरीर अत्यन्त निर्बल और कृष दिखाई देने लगा। उठने-बैठने में भी आपको कष्ट अनुभव होता था। १८८५ वि० में भारतेन्दुजी की दशा बहुत खराब होगई और उसी वर्ष छठी फ़रवरी को आपका स्वर्गवास होगया। हरिश्चन्द्रजी की अकाल मृत्यु से भारत पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। स्थान-स्थान पर शोक मनाया जाने लगा और सर्वत्र उनकी दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए परम प्रभु परमात्मा से प्रार्थना की गई।

सत्यव्रत शर्मा द्वारा शान्ति प्रेस, शीतलागली, आगरा में मुद्रित।